

अतीत का बसंत वर्तमान का शौरभ

आचार्य महाप्रज्ञ



अध्यात्म की अनुभूति उस पुष्प का सौरभ है, जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य की विभाजक रेखा नहीं है। जो कालातीत होता है, उसमें फिर भेद की कल्पना कैसी? आत्मा अस्तित्व है और अस्तित्व की अनुभूति परम सत्य है। परम सत्य की वेदी पर बैठकर जो अनुभव किया जाता है, वही वास्तव में अमिट होता है। उसमें मिटने वाली रेखा का निर्माण करने वाले बिन्दु नहीं होते। अध्यात्म की वेदी वह वेदी नहीं है, जिस पर एक ही बैठ सके, दूसरों के लिए अवकाश ही न हो। यह वह आस्पद है, जहाँ एक के स्थान पर हजार बैठ सकते हैं और हजार में एक का दर्शन हो सकता है।

अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ



आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक
मुनि धनंजयकुमार

© आदर्श साहित्य संघ, चूरु

स्वर्गीय चम्पालालजी दूगड़ एवं सुपुत्र स्व. विजयसिंह दूगड़ की स्मृति में
श्रीमती जीवनीदेवी दूगड़, अशोक कामर्शियल कम्पनी गुवाहाटी (असम)

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी / प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरु (राजस्थान) /
मूल्य : पैंतालीस रुपये / प्रथम संस्करण १९६६ / मुद्रक : पवन ऑफसेट प्रिंटेर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११० ०३२

प्रस्तुति

अध्यात्म की अनुभूति उस पुष्प का सौरभ है, जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य की विभाजक रेखा नहीं है। जो कालातीत होता है, उसमें फिर भेद की कल्पना कैसी? आत्मा अस्तित्व है और अस्तित्व की अनुभूति परम सत्य है। परम सत्य के वेदी पर बैठकर जो अनुभव किया जाता है, वही वास्तव में अमिट होता है। उसमें मिटने वाली रेखा का निर्माण करने वाले बिन्दु नहीं होते। अध्यात्म की वेदी वह वेदी नहीं है, जिस पर एक ही बैठ सके, दूसरे के लिए अवकाश न हो। यह वह आस्पद है, जहां एक के स्थान पर हजार बैठ सकते हैं और हजार में एक का स्थान हो सकता है।

मैंने अध्यात्म का जीवन जीया है। क्यों जीया? यह अव्याकृत है। अनिर्वचनीय को वचन देने की आवश्यकता नहीं होती। व्यवहार का जगत् व्याकरणशून्य नहीं है। उसमें पृष्ठ व्याकरण और अपृष्ठ व्याकरण—दोनों चलते हैं। कभी-कभी मैंने पृष्ठ व्याकरण का प्रयोग किया है और कभी अपृष्ठ व्याकरण का। प्रस्तुत पुस्तक में ये दोनों व्याकरण उपलब्ध हैं।

जब मैं चालीस वर्ष का हुआ, मैंने जीवन का सिंहावलोकन किया। दीक्षा के पचासवें वर्ष में मैंने अपने आपको समझने का और अधिक प्रयत्न किया। हर घटना के प्रति जागरूक रहने का मुझे मंत्र मिला। शुभ घटना और अशुभ घटना को मैंने मौन के आलोक में पढ़ा। इस क्षेत्र में अभिव्यक्ति को अनिवार्य नहीं माना। क्रिया में अधिक विश्वास रहा, प्रतिक्रिया में नहीं अथवा बहुत कम। इस क्रिया ने ही गण और गणपति श्री तुलसी के प्रति मेरी एकात्मकता को अभंग बनाए रखा। उस अभंगता के स्वयंभू साक्ष्य हैं—महाप्रज्ञ का अलंकरण, युवाचार्य पद की

नियुक्ति, महाप्रज्ञ नामकरण और आचार्य पद का अभिषेक। गुरुदेव ने जैसे-जैसे आरोहण कराया, वैसे-वैसे मैंने किया, पर केवल व्यवहार की सीमा में सीमित नहीं रहा। गुरु की कृपा को आत्मा की अनुभूति से पृथक् कर कभी नहीं देखा। यही प्रस्तुत पुस्तक का वक्तव्य है, यदि कोई ध्यान से पढ़ सके।

प्रस्तुत पुस्तक के संपादन में मुनि धनंजयकुमार ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

जैन विश्व भारती
लाडनूँ ३४१ ३०६
१ अगस्त १९६६

आचार्य महाप्रज्ञ

संपादकीय

- वर्तमान का वातायन
विस्फारित हैं नयन
उभरता है अतीत
प्रसृत है अनागत
स्मृतियों और कल्पनाओं का गहन वन
अवस्थित है मानव-मन
देखता है कभी जीवन का उत्तरायन
और कभी दक्षिणायन।
- व्यक्ति जितना देखता है अतीत
उतना कहां देख पाता है अनागत
सुदूर अतीत तक पहुंचती है दृष्टि
अज्ञात रह जाती है कल की सृष्टि
इसीलिए अतीत की गौरव-गाथा
वह रहता है गाता, गुनगुनाता
बसाता है स्मृतियों का संसार
जिनसे जुड़ा था जीवन का तार—
ऐसे थे वे दुर्लभ क्षण
ऐसे थे वे सजीव पल
ऐसे थे वे व्यक्ति
देता है अभिव्यक्ति
जीया हुआ हर पल
बीता हुआ हर कल

लेकर एक नया रूप
बनता है अपना ही प्रतिरूप ।

- अतीत का वसंत-वर्तमान का सौरभ
महाप्रज्ञ का अभिनव सृजन
जीवन का विहंगावलोकन
समय की शिला पर स्व का अंकन
जैसे-जैसे आरोहण
वैसे-वैसे स्व का मूल्यांकन
वर्तमान के झरोखे से अतीत का दर्शन
हुआ कर्तृत्व का अंकन
साक्ष्य बना महाप्रज्ञ अलंकरण
दायित्व की चादर का समर्पण
युवाचार्य का मनोनयन
मुखर हुआ प्रकृष्ट विश्वास
आचार्यपद का अभिनव उच्छ्वास
गुरु तुलसी ने लिखा वह लेख
बन गया अमिट कालजयी अभिलेख
विसर्जन की स्याही से रचा सृजन का इतिहास
युग को जीवन्त बोध अनायास
महाप्रज्ञ द्वारा जीए ये विलक्षण क्षण
प्रस्तुत कृति का अन्तःकरण ।
- प्रस्तुत सृजन की अंतरात्मा
तेरापंथ की पुण्य-प्रतिमा
महावीर की प्रासंगिकता
आचार्य भिक्षु की दार्शनिकता
जयाचार्य का व्यक्तित्व
पूज्य कालूगणी का कर्तृत्व
गुरु तुलसी का युगबोध

जिनका जीवन स्वयं संबोध
महाप्रज्ञ का अवदान
विकास महोत्सव का वरदान
वस्तुतः यह है एक दस्तावेज
ऐतिहासिक और प्रशस्य
छिपे हैं जिसमें
विकास और प्रगति के रहस्य ।

जैन विश्व भारती
लाडनूँ (राजस्थान)
१५ अगस्त १९९६

मुनि धनंजयकुमार

अनुक्रम

१. नई भूमिका : नए संकल्प	१
२. विसर्जन का महामस्तकाभिषेक करें	१०
३. तेरापंथ की शक्ति का रहस्य	१६
४. आश्चर्य के पीछे छिपा महान् आश्चर्य	२०
५. पदाभिषेक : शुभ भविष्य का मंगलपाठ	२३
६. नया दायित्व : नया प्रस्थान	२६
७. विकास महोत्सव	३३
८. विकास महोत्सव : आधार-पत्र	३६
९. नया दायित्व : सबसे बड़ी कसौटी	४३
१०. गुरु का विश्वास : उज्वल भविष्य का उच्छ्वास	४५
११. समाज अध्यात्म से अनुप्राणित हो	५४
१२. धर्मसंघ शक्तिशाली बने	५६
१३. अतीत का अनावरण	६५
१४. प्रज्ञा को भीतर ही रहने दें	६७
१५. अभिवंदना किसकी?	१०१
१६. दीक्षा का प्रयोजन	१०५
१७. वरदान	१०८
१८. स्वस्थ कौन?	१११
१९. महावीर को पूजें या समझें?	११४
२०. बाहुबलि : स्वतंत्र चेतना का हस्ताक्षर	११६
२१. महावीर की प्रथम ज्योति : बाहुबलि	१२४
२२. तेरापंथ के कुछ प्रतिबिम्ब	१२६
२३. जयाचार्य : वर्तमान के संदर्भ में	१३०
२४. अनुशासन के मंत्रदाता : जयाचार्य	१३५
२५. आचार्य तुलसी की आलोक रेखाएं	१४०
२६. अमृत महोत्सव : अभिनंदन	१४४
२७. प्रज्ञा की प्रतिष्ठा का प्रयत्न	१४७

२८. मर्यादा पत्र : मर्यादा महोत्सव का आधार	१५३
२९. मानवीय एकता के सजग प्रहरी : आचार्य तुलसी	१५६
३०. परिवर्तन की परंपरा-१	१६१
३१. परिवर्तन की परंपरा-२	१७५
३२. परिवर्तन के लिए व्यापक दृष्टिकोण चाहिए	१९१
३३. संघीय अनुशासन	१९८
३४. उस संघ को प्रणाम	२०१
३५. जैन परंपरा में सेवा का महत्त्व	२०५
३६. आवश्यक है संवत्सरी की समस्या का समाधान	२०९
३७. जैन शासन की एकता : आचार की कसौटी	२१८

१. नई भूमिका : नए संकल्प

मैं दस वर्ष की अवस्था में मुनि बना। मुनि बनने से पूर्व ही परिचय हो गया मुनि तुलसी से। पहले ही दिन जैसे ही मुनि बना, परमपूज्य कालूगणी ने मुझसे कहा—‘तुम जाओ और मुनि तुलसी के पास रहो।’ ‘उनकी भाषा में कहूं तो तुलछू के पास रहो।’ उकार प्रधान बोलते थे वे। समझता हूं—उसी समय पूज्य गुरुदेव कालूगणी ने मेरे भाग्य की लिपि अंकित कर दी।

मैं एक छोटे गांव में जनमा। बहुत ही छोटा गांव, जहां विद्यालय भी नहीं था। मैंने विद्यार्थी के रूप में कभी विद्यालय का दरवाजा नहीं देखा। मुनि बन गया। पूज्य गुरुदेव (मुनि तुलसी) के संरक्षण में रहने लगा। भोला बालक था। कुछ ऐसा योग था कि मुनि तुलसी ने मुझे अपना लिया, अपना बना लिया, दूरी नहीं रही। यह एक सुयोग था। पतंजलि ने जिसे कहा—‘समापत्ति’। तो समापत्ति हो गई, तादात्म्य हो गया। मुझे नहीं पता था कि मैं बहुत लिख-पढ़ पाऊंगा। उस समय की घटनाएं आपको सुनाऊं तो बड़ी विचित्र लगेंगी। ऐसे प्रश्न पढ़ते समय में पूछता था कि मुनि तुलसी को कहना पड़ता था—‘क्या तुम भी कभी समझ पाओगे?’ किन्तु जिसे अच्छा गुरु मिल जाता है उसे चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। मैंने कभी अपने जीवन में चिन्ता नहीं की। मुझे क्या करना है, क्या खाना है, कहां रहना है, कहां सोना है, इन सबकी मैंने कभी कोई चिन्ता नहीं की। जब चिन्ता करने वाला कोई दूसरा है तो मैं चिन्ता क्यों करूं? द्वितीय विश्वयुद्ध में जब जर्मनी के वायुयान इंग्लैण्ड पर बमवर्षा कर रहे थे तो एक बुढ़िया निश्चिन्त सो जाती थी। पड़ोसी ने कहा—‘हम सब डरते हैं, तुम इतना निश्चिन्त होकर कैसे सो

२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

जाती हो?’ उस बुढ़िया ने कहा—‘चिन्ता करने वाला जब ऊपर बैठा है तो मैं क्यों चिन्ता करूं?’

प्रबल है गुरु

मैंने भी कभी चिन्ता नहीं की। फलस्वरूप मेरा सारा भार, सारा दायित्व इस उत्तरीय को सौंपने वाले ने अपने उत्तरीय में ले लिया, अपने पर ओढ़ लिया। उस समय मेरी स्थिति को जानने वाले आश्चर्य करते हैं कि मैं क्या था, क्या हो गया। कहां था और कहां पहुंचा दिया गया। मैंने कभी नहीं सोचा कि मैं ‘निकाय सचिव’ बनूंगा किन्तु बना। मैंने कभी नहीं सोचा कि मैं युवाचार्य बनूंगा किन्तु बन गया और मैंने कभी भी यह नहीं सोचा कि तेरापंथ धर्मसंघ जैसे विशाल धर्मसंघ का आचार्य बनूंगा। न चिंतन किया, न सोचा और न चाहा, न मांगा। बहुत से लोग मेरी जन्मकुंडली को देखते हैं। आज भी चैनरूप भंसाली के साथ बम्बई से एक ज्योतिषी आए। समय नहीं था, किन्तु उन्होंने आग्रह कर दस मिनट का समय लिया। कुंडली देखी और कहा—‘आपने मांगा नहीं, चाहा नहीं, किन्तु आचार्य पद आपके गुरु ने आपको दे दिया।’ मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने कहा—‘आपका गुरु बहुत प्रबल है।’ मैंने कहा—‘गुरु ही तो प्रबल होता है और प्रबल होता ही क्या है?’ और जिसका गुरु प्रबल होता है, उसे फिर इस दुनिया में कोई चिन्ता करने की जरूरत नहीं रह जाती।

इस अवसर पर आज मैं क्या कहूं? क्या मैं कृतज्ञता प्रकट करूं? बहुत छोटा पड़ता है यह कृतज्ञता शब्द। जिस गुरु ने मेरे जीवन का निर्माण किया, जिस गुरु ने एक अबोध बालक को प्रबुद्धता के उच्चासन पर प्रतिष्ठित किया, उसके लिए मैं कृतज्ञता जैसे छोटे शब्द का प्रयोग करूं, यह मैं नहीं चाहता। जो जीवनदाता होता है, भाग्यविधाता होता है, उसे समझ लेना ही अच्छा है। राम ने हनुमान से कहा—‘मैं तुम्हें धन्यवाद देना नहीं चाहता, कृतज्ञता प्रकट करना नहीं चाहता, यह जीर्ण हो जाए, बस, मुझमें ही पच जाये कि हनुमान ने मेरी कितनी सेवा की है।’ गुरुदेव! आपने मुझ पर जो अनंत उपकार किया है, कितना वात्सल्य दिया है और कितना क्या-क्या किया है, उसके प्रति आभार व्यक्त करने

के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं हैं। पंडित दलसुखभाई मालवणिया कहते हैं—‘पन्द्रह सौ वर्ष के इतिहास में, जैन परंपरा के इतिहास में गुरु-शिष्य का ऐसा संबंध देखने में नहीं आया।’

भक्त भगवान् बन गया

मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ कि मुझे ऐसा गुरु मिला, जिसने मेरे सौभाग्य का निर्माण किया। आज गुरुदेव ने मुझे अपने आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया। मैं मानतुंग सूरि के उन शब्दों को याद करूँ, जो उन्होंने भक्तामर स्तोत्र में लिखे—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ!
भूतैर्गुणैर्भुविभवन्तमभिष्टवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥

मुझे लगता है संभवतः अणुव्रत अनुशास्ता गणाधिपति तुलसी को लक्ष्य कर ही उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखी होंगी। उन्होंने लिखा—‘इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं कि आपकी स्तुति और आपकी भक्ति करने वाला आपके समान बन जाता है।’ आचार्य मानतुंग कहते हैं—‘मैं उस भगवान् को कोई मूल्य नहीं देता, जो भक्त को सदा भक्त बनाए रखता है और स्वयं भगवान् बना रहता है। मैं उस भगवान् को मूल्य देता हूँ, जो अपने भक्त को भी अपने समान भगवान् बना दे।’ इस श्लोक को लाखों लोगों ने पढ़ा है, प्रतिदिन जैन लोग इसका सस्वर पाठ करते हैं, किंतु किसी ने भी इसका क्रियान्वयन नहीं किया। इसका क्रियान्वयन किसी ने किया है तो एकमात्र मेरे भाग्यविधाता ने किया है।

अपनी बात

अब मैं अपनी बात कहूँ। आपने तो बहुत कुछ किया। मुझे जिस संघ का दायित्व सौंपा है, वह बहुत विशाल धर्मसंघ है। संख्या की दृष्टि से, और उससे भी अधिक कार्य की दृष्टि से। जब गुरुदेव आचार्य बने थे, उस समय हमारे धर्मसंघ में मात्र एक सभा थी—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता। इसके अतिरिक्त न कोई और संस्था, न कोई और

४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

कार्यक्रम। गुरुदेव ने अपने श्रम से इतना विस्तार किया धर्मसंघ का कि आज पूरे देश में लगभग चार सौ तेरापंथी सभाएं हैं। डेढ़ सौ से अधिक युवक परिषदें हैं, दो सौ इक्यावन महिला मण्डल की संस्थाएं हैं। पचास से अधिक अणुव्रत समितियां, अणुव्रत शिक्षक संसद के डेढ़ लाख से अधिक सदस्य, देश और विदेश में स्थापित प्रेक्षाध्यान केन्द्र, अहिंसा प्रशिक्षण केन्द्र, जीवन विज्ञान अकादमी, और प्रायः हर क्षेत्र में चल रही ज्ञानशालाएं—इतने सारे कार्यक्रम आपके दिए हुए चल रहे हैं। मैं कहना चाहता हूं कि गुरुदेव ने संभवतः और ज्यादा ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी। यह कैसे कहूं कि ध्यान नहीं दिया किन्तु संकोच पूर्वक कहूंगा कि और ध्यान देते तथा मुझसे ज्यादा किसी सक्षम को ढूंढते तो कितना अच्छा होता! दुबला-पतला हूं। मेरे दुर्बल कन्धों पर इतना भार रखते समय गुरुदेव ने कुछ सोचा तो होगा ही। नहीं सोचा होगा, यह मैं कैसे मान लूं? जरूर सोचा होगा। किन्तु सोचता हूं कि कितना अच्छा होता कि किसी मजबूत कन्धे वाले को गुरुदेव चुनते। पर आखिर गुरु गुरु होता है। जो कर दिया, वह मान्य है, शिरोधार्य है। आज ही क्या, साठ वर्ष से स्वीकार करता आ रहा हूं, आज क्यों नहीं स्वीकार करूंगा?

अनुशासित और विनीत धर्म परिवार

मैं इस अवसर पर पूरे धर्मसंघ को आश्वस्त और विश्वस्त करना चाहता हूं कि मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। चिन्ता करना सीखा ही नहीं। इसलिए कि मुझे भगवान् महावीर का अनेकान्त दर्शन मिला है, मुझे आचार्य भिक्षु के अनुशासन का सूत्र मिला है, मुझे पूज्य कालूगणी की अनन्त करुणा मिली है, उनके साये में मैं जीया हूं और मुझे अपने भाग्यविधाता मेरे गुरुवर तुलसी का तो सब कुछ मिला है। फिर मुझे किस बात की चिन्ता? इतने बड़े दायित्व और इतने बड़े धर्म संघ के संचालन का मैं पूरी निष्ठा के साथ, जैसा कि गुरुदेव ने संकल्प करवाया है, निर्वाह करूंगा। चिन्ता इसलिए भी मुझे नहीं है कि ऐसा विनीत और अनुशासित धर्मसंघ हमें मिला है, जो इशारे को समझता है, आचार्य के इंगित को मान कर चलता है, कहने की जरूरत ही नहीं पड़ती। मेरे सहयोगी के रूप में महाश्रमण मुदितकुमार को गुरुदेव ने पहले से ही

नियुक्त कर रखा है, जो मेरे अन्तरंग कार्य के सहयोगी हैं। महाश्रमणीजी, जो हमारी साध्वियों और समणियों का नेतृत्व करती हैं, मेरी पूरी सहयोगी हैं। जब इतने शक्तिशाली सहयोगी हों तो फिर मैं क्यों चिन्ता करूँ? मेरे सभी साधु-साध्वियाँ आज्ञा और अनुशासन को पूर्णरूप से मानने वाले और आत्मनिष्ठ हैं, इन सबका सहयोग मुझे प्राप्त है। श्रावक समाज अत्यन्त विनीत और अनुशासित है, ऐसा समाज जिसे मिल जाये, उसे क्या चिन्ता होगी?

कृतज्ञता के स्वर

मैं इस अवसर पर अपनी स्वर्गीया माता साध्वीश्री बालूजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। उन्होंने मुझे अध्यात्म के संस्कार दिये। बचपन की बात याद है मुझे, जब वे रात्रि के पिछले प्रहर में गाती थीं—‘संत भीखणजी रो समरण कीजै।’ चौबीसी, आराधना के बोल उनके द्वारा मेरे भीतर जमते गए।

साध्वी मालूजी, जिन्होंने मेरा पालन-पोषण किया, के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मैं नहीं भूल सकता छबीलजी स्वामी को, जिन्होंने प्रथम बार बीज बोने का काम करते हुए मुझसे कहा—‘तुम गंगाशहर जाओ, पूज्य कालूगणी के दर्शन करो। वहीं तुम्हें मुनि तुलसी भी मिलेंगे, उनके भी दर्शन करना।’

मैं कभी नहीं भूल सकता सेवाभावी मुनि चम्पालालजी स्वामी को, चतुर्विध धर्मसंघ जिन्हें भाईजी महाराज के नाम से जानता है। उनके साथ मैं बहुत वर्ष तक रहा और उन्होंने मेरे लिए बहुत कुछ किया।

और सबसे अधिक मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी के प्रति कृतज्ञता। उनके समान दूसरा कोई व्यक्ति मैंने अपने जीवन में नहीं देखा। इतना प्रबुद्ध, इतना चिंतक और इतना गंभीर व्यक्ति मैंने दूसरा नहीं देखा अभी तक। मेरे साथ वे जो कुछ बात करते, उससे मुझे ऐसा लगता, जैसे वे सचमुच कोई बीज बो रहे हैं।

और भी अनेक साधु-साध्वियों का मुझे स्नेह और संरक्षण मिला है, सभी का मुझ पर उपकार है। सबके प्रति कृतज्ञभाव से मैं अभिवंदना

६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

करता हूं और चाहता हूं कि हमारे धर्मसंघ में इस तरह एक दूसरे को बनाने की, निर्माण करने की प्रक्रिया चालू रहे।

व्यापक दृष्टिकोण

गुरुदेव! आपने मुझे तेरापंथ धर्मसंघ का आचार्य बनाया, किन्तु आपने अपने लिए अध्यात्म का विशेष मार्ग चुना है। अभी तक आपने अपने हर कार्य में मुझे अपने साथ रखा है, अध्यात्म के कार्य में भी रखा है। आपने धर्म को व्यापक रूप दिया। धर्माचार्य कहते—विज्ञान ने धर्म का सत्यानाश कर दिया, किन्तु आपने मुझसे कहा कि इस सचाई को हमें स्वीकार करना है कि विज्ञान ने धर्म का बहुत उपकार किया है। उस समय लोग कहते—समाजवाद और साम्यवाद को एक मुनि को नहीं पढ़ना चाहिए, अन्यथा वह भ्रष्ट हो जायेगा। कभी ऐसी ही शिकायत मुनियों ने गुरुदेव से की। गुरुदेव ने कहा—‘तुम लोग चिन्ता मत करो, वह मेरी आज्ञा से पढ़ रहा है।’ मैंने साम्यवाद पढ़ा, समाजवाद पढ़ा, राजनीतिक प्रणालियों को पढ़ा, विज्ञान के बारे में पढ़ा। यह सब कुछ न पढ़ पाता अगर गुरुदेव की प्रेरणा और निर्देश न होता। आपने दृष्टिकोण को भी व्यापक बनाया है।

लोग पूछते हैं मुझसे कि अब आप नई भूमिका में क्या करेंगे? कल दूरदर्शन वालों ने पूछा, और भी अनेक विशिष्ट लोगों ने पूछा कि अब आप क्या करेंगे? मैंने कहा—‘मैं कोई नया काम तो नहीं शुरू करूंगा, हां नया कुछ जरूर जोड़ूंगा।’

पहली प्राथमिकता

मानव के सामने आज तीन बड़ी समस्याएं हैं—

१. रोटी की समस्या,
२. चरित्र की समस्या,
३. मानसिक शान्ति की समस्या।

ये तीन बड़ी समस्याएं हैं आज की। रोटी की समस्या को सुलझाने का दायित्व राजनेताओं पर है। शेष बची दो—चरित्र की समस्या और मानसिक शान्ति की समस्या। चरित्र की समस्या को सुलझाने से भी

अधिक वरीयता में देना चाहता हूं मानसिक समस्या सुलझाने को। मैं अपनी और अपने धर्मसंघ की पूरी शक्ति का इस कार्य में नियोजन करना चाहता हूं। (पूज्य गुरुदेव ने टिप्पणी की—यदि यह समस्या सुलझ जाए तो समस्या रह ही नहीं जायेगी) गुरुदेव ने बिल्कुल ठीक कहा कि प्राथमिकता दी जा रही है गरीबी को, जबकि प्राथमिकता देनी चाहिए चरित्र को, मानसिक स्वास्थ्य को, जिनके आधार पर गरीबी पनप रही है और चल रही है। गरीबी चरित्रहीनता की ही तो उपज है।

मानव जाति के लिए

एक और आशीर्वाद मैं आपसे चाहता हूं। उसे चाहे आप मेरी नीति की घोषणा समझें या कुछ और। वह यह—

१. मानसिक समस्याओं को सुलझाने में,
२. अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करने में,
३. अध्यात्मनिष्ठ साम्यवादी समाज व्यवस्था के द्वारा स्वस्थ समाज की रचना करने में—

मैं अपनी शक्ति और अपने धर्मसंघ की शक्ति का नियोजन करूं, यह आशीर्वाद आप मुझे प्रदान करें।

समाज से कट कर हम चल नहीं सकते। हमारा विश्वास एकान्त में नहीं, अनेकान्त में है। जितनी अच्छी समाज-व्यवस्था, उतना अच्छा चरित्र का विकास। जितना अच्छा चरित्र, उतनी अच्छी समाज की व्यवस्था। इन दोनों का एक योग है, जिसे कभी अलग नहीं किया जा सकता। यही हमारा मुख्य कार्य रहेगा। हमारा दृष्टिकोण, जो व्यापक बना है, कभी संकुचित नहीं होगा। तेरापंथ धर्मसंघ का असाम्प्रदायिक व्यापक दृष्टिकोण और पूरी मानवजाति के लिए निर्धारित उसका कार्यक्रम, जैसा गुरुदेव द्वारा प्रदत्त है, वैसा ही चलेगा। मुझे आशीर्वाद दें कि उसमें कुछ और जोड़ सकूं, उसमें कुछ और निखार ला सकूं।

धर्मसंघ की अपेक्षाएं

हमारे धर्मसंघ को आज कुछ अपेक्षाएं हैं—

१. चित्त-समाधि
२. सेवा और श्रम

८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

३. उच्च शिक्षा

४. स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता

५. अनेकांत का जीवन व्यवहार में प्रयोग।

हमारी पहली आवश्यकता होती है—चित्त-समाधि। हम अपने संघ में साधु-साधवियों की अन्तरंग परिषद् में सबसे पहली प्राथमिकता देते हैं चित्त-समाधि को। जो आचार्य अपने साधु-साधवियों की चित्त-समाधि को नहीं रख पाता, वह सफल आचार्य नहीं कहलाता। प्रयत्न रहा कि प्रत्येक साधु-साध्वी के चित्त-समाधि रहे। दूसरी बात है सेवा और श्रम की। हमारे धर्मसंघ में सेवा को इतना महत्त्व दिया गया है कि उतना और किसी दूसरी चीज को नहीं। इसके साथ-साथ उच्च शिक्षा। कोरा भजनानन्दी नहीं बनना है। युग के साथ चलने के लिए उच्च शिक्षा की अनिवार्यता है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता और अनेकान्त को जीवन-व्यवहार में लाना, ये सूत्र हमारे धर्मसंघ में विकसित होते रहें, इसके लिए भी मैं आपसे आशीर्वाद चाहता हूँ।

रोहिणी का दायित्व निभाऊं

चार प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं—

- उज्जिता,
- भोगवती
- रक्षिता
- रोहिणी।

पांच चावल देकर कहा गया कि इसे पांच वर्षों के बाद लौटाना है। एक पुत्रवधु ने उन्हें गली में फेंक दिए, सोचा-पांच वर्ष बाद नए चावल दे दूंगी। यह उज्जिता की मनोवृत्ति है। एक खा गई यह सोचकर कि कहां रखूंगी। यह भोगवती होती है। तीसरी होती है रक्षिता। उसने सुरक्षित एक डिब्बे में रख लिए कि ससुरजी मांगेंगे तो निकाल कर दे दूंगी। चौथी है रोहिणी। पांच चावलों से खेती शुरू की और मांगा तो बोली—'ऐसे नहीं, बैलगाड़ी लेकर आओ और लाद कर ले जाओ।' सारे बही खाते सामने लाकर रख दिये। गुरुदेव! मैं उज्जिता में विश्वास नहीं करता, भोगवती में विश्वास नहीं करता। रक्षिता में करता हूँ पर पूरा

नहीं। आप मुझे आशीर्वाद दें कि मैं रोहिणी का दायित्व निभाऊं।

महाभारत में पुरुषार्थ के चार प्रयोजन बताए गए हैं—

अलब्धं चैव लिप्सेत्, लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः ।

रक्षितं वर्धयेच्चैव, वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्॥

एतच्चतुर्विधं विद्यात्, पुरुषार्थप्रयोजनम् ।

अस्य नित्यमनुष्ठानं, सम्यक् कुर्यादतन्द्रितः॥

जो नहीं मिला, उसे पाने की चेष्टा करो। जो मिल गया, प्रयत्न के साथ उसकी रक्षा करो। जिसकी रक्षा की, या जो रक्षित है, उसे और बढ़ाओ, उतना ही मत रखो। और जो बढ़ गया, उसे पात्र में नियोजित करो।

संघ में जो बढ़ा है, उसे मैं पात्र में नियोजित करने का प्रयत्न करूंगा। पात्र का बड़ा महत्त्व होता है। संस्कृत कवि ने कहा है—‘जल का अग्नि के साथ वैर है। अग्नि में जल डालो, बुझ जायेगी। बीच में पात्र रख दो, पानी गर्म होकर उपयोगी बन जायेगा।’

लक्ष्य है अध्यात्म का विकास

आपका आशीर्वाद और पथदर्शन मुझे निरंतर मिलता रहे कि मैं इस संघ की संपदा को सुरक्षित रखूं, उसे बढ़ाऊं और पात्र में नियोजित भी करूं। मेरे जीवन का सदा से ही लक्ष्य रहा—अध्यात्म का विकास। मेरी धारणा है कि जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र में अध्यात्म का विकास नहीं होता वहां फिर अपराध का ही विकास होता है। ऐसा आशीर्वाद दें कि अध्यात्म के क्षेत्र में अधिक से अधिक मैं स्वयं और संघ की शक्ति को भी लगा सकूं। आपका आशीर्वाद, आपका वरदहस्त मेरे सिर पर है। जो दायित्व आपने मुझे सौंपा है, उसे चलाने में, बढ़ाने में, मेरी ऊर्जा, प्राणशक्ति और अधिक सक्रिय बने, इसी मंगलभावना और कामना के साथ।

* ५ फरवरी १९६५. आचार्य पदाभिषेक के अवसर पर दिया गया वक्तव्य।

२. विसर्जन का महामस्तकाभिषेक करे

आज मर्यादा का महोत्सव है। आज तक ऐसा कहीं नहीं सुना कि दुनिया में कहीं मर्यादा का भी महोत्सव होता है। वन महोत्सव होता है, और भी अनेक प्रकार के महोत्सव होते हैं, किन्तु अनुशासन का महोत्सव अपने आप में एक विलक्षण बात है। आचार्य भिक्षु मर्यादा-पुरुष थे। उन्होंने कुछ मर्यादाएं बनाईं और संघ को एक नया स्वरूप प्रदान किया। जयाचार्य ने संघपुरुष को चिरायु बनाने के लिए मर्यादा-महोत्सव की स्थापना की। वह मर्यादा-महोत्सव अब एक शताब्दी को प्राप्त कर चुका है और दूसरी शताब्दी में चल रहा है।

आज दिल्ली महानगर के इस परिसर (अध्यात्म साधना केन्द्र) में मर्यादा-महोत्सव मनाया जा रहा है। तेरापंथ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान, सबसे महत्त्वपूर्ण उत्सव, जो पूरे धर्मसंघ को प्राण देता है, आज हमारे सम्मुख है।

अनुशासन का मूल आधार

मर्यादा चिरस्थायी कब हो सकती है? अनुशासन का मूल आधार आचार्य भिक्षु ने बतलाया आचार-निष्ठा। आत्मा, अध्यात्म और आचार-इस बात को भुला दें तो न कोई अनुशासन होगा, न कोई मर्यादा होगी। इस प्रकार का शासन ऐसा होगा कि बाहर तो अनुशासन और भीतर छलना-प्रवंचना और ठगाई ही ठगाई। जब भी खाद्य और आपूर्ति संबंधी कोई नया कानून बनता है, खाद्य सामग्रियां विलुप्त होने लगती हैं। ऐसा इसलिए होता है कि यह आचार पर आधारित कानून नहीं है, केवल व्यवहार पर आधारित है। हमारी मर्यादा का यह प्रासाद आचार-निष्ठा की नींव पर खड़ा है। ऊपर कितनी ही मंजिल ले जाओ, कोई आंच

नहीं आयेगी। आचार-निष्ठा, अध्यात्म-निष्ठा और मर्यादा की निष्ठा बहुत जरूरी है। किन्तु इतना ही हम पर्याप्त नहीं मानते, इनका निरन्तर विकास भी आवश्यक है। जो संघ विकासोन्मुखी नहीं होता, नये युग के साथ चरण बढ़ाने की जिसमें क्षमता नहीं होती, अपने लिए वह भले ही ठीक हो, किन्तु दुनिया के लिए किसी विशेष काम का नहीं होता।

चिरजीवी है शिष्यत्व

हमारे सामने दो आयाम आ गए—एक मर्यादा का महोत्सव और दूसरा विकास का महोत्सव। पूज्य गुरुदेव ने कहा—‘अब मेरा पट्टोत्सव न मनाया जाये।’ आपकी इस बात को हम सबने स्वीकार कर लिया। आखिर गुरु की आज्ञा है। आपने मुझे आचार्य बना दिया। अब मैं आप लोगों के लिए आचार्य हूँ, किन्तु गुरुदेव के लिए तो शिष्य ही हूँ। मैं प्रार्थना करता था, सुझाव देता था और गुरुदेव स्वीकृति दे देते थे। अब मैं प्रार्थना करूँगा कि ऐसा करना है, गुरुदेव अपनी ‘हां’ कर देंगे। हां तो वहां से लेनी होगी। जो उत्तरवर्ती आचार्य अपने गुरु के प्रति, अपने आचार्य के प्रति अच्छा शिष्य बन कर रहेगा, वही अच्छा आचार्य बन सकता है। मैंने बहुत पहले एक पद्य पढ़ा था और आज तक उस पद्य पर चलता रहा हूँ—सीसस्स हुंति सीसा न हुंति सीसा असीसस्स—जो शिष्य बनना नहीं जानता, उसका कोई शिष्य नहीं होता। मैंने शिष्य बनना सीखा है। आचार्य बनना, गुरु बनना तो नहीं सीखा था, वह तो सिखा दिया गया, किन्तु शिष्य बनना जरूर सीखा है। मेरा वह शिष्यत्व चिरजीवी है, चिरस्थायी है। भिक्षुस्वामी से लेकर वर्तमान गणाधिपति तक सबके प्रति समान रूप से मेरा वही शिष्यभाव बना रहे। मेरी सफलता का सबसे बड़ा मंत्र यही है।

अच्छा आचार्य बनूँ

आचार्य बनने के बाद कई पत्रकारों ने पूछा—‘अब आपका क्या कार्यक्रम होगा? आपकी नीति क्या होगी? आप क्या नया करना चाहेंगे?’ मैंने उनकी बात का एक वाक्य में उत्तर दिया और राष्ट्रपति कैनेडी की भाषा में दिया। जब कैनेडी अमेरिका के राष्ट्रपति बने तब उनसे पूछा गया—‘अब आपकी नीति क्या होगी? अब आप क्या करना चाहेंगे’

अमेरिका और पूरे विश्व में? उन्होंने दो पंक्तियों में सीधा-साधा उत्तर दिया—‘मैं और कुछ नहीं करना चाहता, मेरी कोशिश यही रहेगी कि मैं अमेरिका का अच्छा राष्ट्रपति बनूँ।’

मैं भी कहना चाहता हूँ कि मैं अपने गुरु का अच्छा शिष्य बना रहूँ और अपने धर्मसंघ का अच्छा आचार्य बनूँ, इसके अतिरिक्त मेरी और कोई इच्छा नहीं है, मैं कुछ नहीं चाहता। इससे अधिक चाहत की और कोई बात ही नहीं है।

धर्मसंघ की दो भुजाएं

गुरुदेव ने पट्टोत्सव न मनाने की बात कही। अब ऐसा कैसे हो सकता है कि पट्टोत्सव न मनाया जाये। उस समय मेरे मन में एक बात आई कि पट्टोत्सव मनाया जाये और स्थायी रूप से मनाया जाये। इसी चिन्तन के आधार पर उसे विकास-महोत्सव का नाम दिया गया। यह विकास-महोत्सव पूज्य गुरुदेव के पट्टोत्सव को तो प्रतिबिम्बित करेगा ही, शेष आठ आचार्यों के पट्टोत्सव भी इसमें समाहित हो जाएंगे और इस प्रकार विकास-महोत्सव तेरापंथ के नौ आचार्यों के पट्टोत्सव का महोत्सव होगा। यह हमारे लिए बड़े गौरव की बात है। मैं मानता हूँ कि जो व्यक्ति, जो समाज और जो संघ अकृतज्ञ है, जिसमें कृतज्ञता नहीं होती, वह कभी आगे नहीं बढ़ सकता। वह आगे बढ़ेगा भी तो केकड़ा-नीति के आधार पर आगे बढ़ेगा। चन्दनमलजी बैद ने कल कहा—‘आप दोनों में तालमेल बहुत है।’ शायद ऐसा कहते हुए वे भूल गए कि तालमेल वहां होता है, जहां दो हों। तालमेल हमेशा दो व्यक्तियों के बीच होता है। जहां एकत्व है वहां तालमेल का प्रश्न ही नहीं आता।

इस वर्ष सघन कार्य करने हेतु विकास-महोत्सव की कल्पना की गई है। कल्पना बहुत बड़ी है। आज मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर उस पूरी कल्पना को प्रस्तुत करूँ, संभव नहीं है। अभी उस पर बहुत चिंतन-मंथन चल रहा है और लम्बे समय तक चलेगा, तब उसकी पूरी तस्वीर सामने आयेगी। एक मर्यादा-महोत्सव और दूसरा इसका सहोदर बन जायेगा विकास-महोत्सव। ये दोनों हमारे धर्मसंघ की दो भुजाएं होंगी। संघ इससे तेजस्वी और ओजस्वी बनेगा।

आचार्य भिक्षु के वचन में छिपा मर्म

अद्भूत मेधा और सूझबूझ के धनी थे आचार्य भिक्षु। जब उनसे किसी ने पूछा कि आपके उपाध्याय कौन हैं? आपके प्रवर्तक कौन हैं? तब उन्होंने कहा—‘सातों पदों का काम मैं अकेला ही कर रहा हूँ।’ उत्तरवर्ती कोई आचार्य इस तरह के किसी पद का सृजन करे तो इसके लिए उनकी मनाही नहीं थी, किन्तु हम उनके इंगित को समझें, उनकी भावना को समझें। अगर उनकी बात में छिपे मर्म को हम समझें तो स्वतः ही यह बात सामने आ जायेगी कि संघ में यह पूजा, प्रतिष्ठा, पद-लालसा, अहंकार न पनपे, संघ चिरायु रहे, इस हेतु उन्होंने यह दूरदर्शी दायित्व स्वयं संभाला था। उपाधियां और विशेषण जहां व्यक्ति के पीछे जुड़े, वहां अहंकार का प्रवेश हुआ। मैंने उज्जैन चातुर्मास में देखा एक मुनिजी को। उनका पट्टा लगा हुआ था। उस पर लिखे विशेषण पढ़ते-पढ़ते थक गया।

उपाधि न जोड़ें

व्यक्ति इन उपाधियों से ढक जाता है। मैं अपने धर्मसंघ के हर सदस्य से कहना चाहता हूँ कि कोई भी व्यक्ति किसी साधु-साध्वी या समण-समणी के पीछे अपनी इच्छा से कोई विशेषण न जोड़े। केन्द्र की स्वीकृति या संघपति के सिवाय कोई भी किसी के पीछे या स्वयं किसी प्रकार का विशेषण या उपाधि न जोड़े। आप इसे धर्मशास्त्रा का निर्देश मानें और भविष्य में इस संदर्भ में विशेष जागरूक रहें। जहां कहीं भी ऐसा देखें, तत्काल अंगुलि-निर्देश करें कि यह हमारे धर्मसंघ की विधि नहीं है। सेवाभावी चम्पालालजी स्वामी कहते थे कि भला साधु से भी बड़ा और कोई पद है क्या? आचार्य कहां से आए? कहीं आकाश से तो नहीं। साधु से बड़ा कोई पद और विशेषण नहीं होता।

अक्षुण्ण रहे विसर्जन की परंपरा

विसर्जन की हमारी परंपरा अक्षुण्ण रहनी चाहिए। यह विसर्जन कोई राजनीतिक किस्म का नहीं है। जयाचार्य द्वारा यह सूत्र प्रदत्त है। हर अग्रणी जब चातुर्मास परिसंपन्न होने के बाद गुरुदर्शन करता है तो

१४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

सबसे पहले गुरु-चरणों में विसर्जन करता है और कहता है—‘गुरुदेव! मैं और मेरे साथ के ये साधु या साध्वियां, मेरे पुस्तक-पन्ने—सब आपके चरणों में प्रस्तुत हैं। अब आप जहां रखाएं, वहीं रहने का भाव है।’ किसको कहां भेजना है, इसका निर्णय एकमात्र संघपति करते हैं। हमारे यहां इस संबंध में न तो किसी प्रकार का आग्रह, अनुरोध मान्य होता है, न सिफारिश, न किसी प्रकार की पंचायती। हमारा धर्मसंघ त्याग, तपस्या और विसर्जन का संघ है, यह कोई राजनीति का अखाड़ा नहीं है। हमें इन सब बातों पर ध्यान देना है।

आचार्य भिक्षु ने यह जो एक नेतृत्व का विधान किया, वह अटूट ही रहेगा। इस परंपरा और विधान की कीमत पर कोई भी परिवर्तन हमें अभीष्ट नहीं है। मैं चाहता हूं कि पद और विशेषण के बजाय दायित्व लिए और दिये जायें।

अनुग्रह

साध्वीप्रमुखा ने आज प्रातःकाल पूज्य गुरुदेव से प्रार्थना की—कल के कार्यक्रम में साधु-साध्वियों पर अनुग्रह नहीं किया गया है। संघ के हर साधु-साध्वी और समण-समणी के चित्त-समाधि रहे, यह आचार्य का सबसे बड़ा अनुग्रह है। इस पर ध्यान देना मेरा परम कर्तव्य है। किन्तु औपचारिकता के रूप में साध्वीप्रमुखाजी के अनुरोध को ध्यान में रखकर संघ के सभी साधु-साध्वियों को छह मास तक विगय-वर्जन से मुक्ति रहेगी। एक दूसरी बात इसी के साथ और जोड़ता हूं—साठ वर्ष की अवस्था से अधिक अवस्था वाले साधु-साध्वियों को एक वर्ष मर्यादा-महोत्सव से लेकर मर्यादा-महोत्सव तक समुच्चय के कार्य से मुक्ति रहेगी।

विसर्जन का अभिषेक

आचार्य भिक्षु ने विसर्जन का सूत्र दिया, जयाचार्य ने दिया। पूज्य गुरुदेव ने दो बार दे दिया। इस संबंध में मैं कुछ कहना चाहता हूं—गुरुदेव! कल आपने मेरा आध्यात्मिक अभिषेक किया आचार्य पद का। मैं चाहता हूं कि आचार्यवर के इस विसर्जन का अभिषेक कोई करे। मेरी तो

क्षमता नहीं कि गुरुदेव के विसर्जन का अभिषेक कर सकूँ किन्तु मैं बचपन से ही भिक्षु स्वामी के प्रति ज्यादा श्रद्धाशील रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि आचार्य भिक्षु और जयाचार्य मेरी बात वहाँ बैठे-बैठे सुन लें और अपने भक्त का एक काम करें कि गुरुदेव ने जो विसर्जन किया है, उस विसर्जन का महामस्तकाभिषेक करने के लिए आप दोनों स्वयं इस धरती पर पधारें।*

* आचार्य पदाभिषेक के बाद मर्यादा-महोत्सव पर प्रदत्त वक्तव्य।

३. तेरापंथ की शक्ति का रहस्य

हमारा धर्मसंघ एक विशाल धर्मसंघ है। बड़ा इसलिए कि वह शक्तिशाली है। मैं आकार को बहुत बड़ा नहीं मानता। एक बहुत बड़ा आदमी थुलथुला हो जाये, सौ-डेढ़ सौ किलो का हो जाये तो उसे बड़ा मानने का कोई औचित्य नहीं है। बड़ा वह होता है, जो शक्तिशाली होता है। सौभाग्य से हमें शक्ति के मूल तत्त्व मिले हैं। शक्ति के मूल तत्त्व पांच हैं—

- अनुशासन बल
- सिद्धान्त बल
- मनोबल
- अध्यात्म बल
- समाधान बल।

अनुशासन बल

पहला तत्त्व है—मर्यादा या अनुशासन। जिस संघ को अनुशासन-बल प्राप्त होता है, वह शक्तिशाली होता है। जिसे यह प्राप्त नहीं होता, आकार में भले ही वह आकाश को नाप ले, बड़ा नहीं कहा जायेगा।

सिद्धान्त बल

दूसरा तत्त्व है सिद्धान्त बल। आचार्य भिक्षु ने सौभाग्य से हमें सिद्धान्त बल दिया है। तेरापंथ की स्थापना कोई हवाई स्थापना नहीं है। अनुशासन भी चल रहा है तो हवाई किलों से नहीं चल रहा है। मैं बिना किसी अहंकार और गर्वोक्ति से कहना चाहूंगा कि तेरापंथ को जितनी सिद्धान्तभूमि, आधारभूमि प्राप्त है, शायद किसी और को प्राप्त नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने अनेक ग्रन्थ लिखे—अहिंसा की चौपई, व्रताव्रत की चौपई, निक्षेप की चौपई। हर दृष्टि से उन्होंने सिद्धान्त पर बहुत बल दिया और नींव ऐसी मजबूत कर दी है कि उसके आधार पर अनगिनत मंजिलों वाला मकान खड़ा किया जा सकता है। जहां सिद्धान्त का बल, चिंतन का बल नहीं होता, समस्या उलझ जाती है। जिसके पीछे कोई चिंतन नहीं होता, कोई सिद्धान्त नहीं होता, कोई कसौटी नहीं होती, कोई मानदण्ड नहीं होता, उसके सामने समस्या ही समस्या दिखाई देती है, कोई काम वह नहीं कर पाता।

मनोबल

तीसरा तत्त्व है मनोबल। सौभाग्य से यह भी हमें प्राप्त है। मनोबल की एक लम्बी परंपरा और एक लम्बा इतिहास रहा है हमारे धर्मसंघ में। थोड़े में कहूं तो अब तक हमारे धर्मसंघ का जो और जितना विकास हुआ है, वह मनोबल के ही आधार पर हुआ है। हमने अपनी यात्रा शुरू की है गालियों की बौछारों के बीच, अपमानों के बीच, अवरोधों के बीच। यहां तक कहा गया—कोई आचार्य भिक्षु को ठहरने के लिए स्थान दे दे तो इक्कीस सामायिक का दण्ड। इन सब अवरोधों, धमकियों और चुनौतियों के बीच हमारी यात्रा चली है। मनोबल हमारा इतना प्रबल था कि रतलाम में हमारे एक मुनि वेणीरामजी को एक दिन में नौ स्थान बदलने पड़े थे, किन्तु मनोबल डिगा नहीं। धन्य हैं वे हमारे साधु-साध्वियां, जिन्होंने हमारे धर्मसंघ के इस मनोबल को बनाए रखा। उपाध्याय अमरमुनि, जो स्थानकवासी संप्रदाय के प्रमुख विद्वान् साधु थे, ने रायपुर की घटना के प्रसंग में लिखा—‘अगर आचार्य तुलसी जैसा मनोबली आचार्य न होता, उसके स्थान पर कोई दूसरा होता तो घुटने टेक देता, भाग जाता।’ आज भी न जाने कितनी और कैसी-कैसी समस्याएं आती हैं, किन्तु मनोबल के सहारे पार हो जाती हैं।

अध्यात्म बल

चौथा तत्त्व है—अध्यात्म बल। जिस संघ को अध्यात्म का बल प्राप्त नहीं होता, वह कभी बड़ा नहीं बन सकता। बीसवीं सदी की समाप्ति और

१८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर खड़ा हमारा धर्मसंघ अध्यात्म की दृष्टि से आज विश्व के किसी भी धर्मसंघ से बड़ा नहीं है तो कम तो है ही नहीं। बड़ा कहूं तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। हमें याद है दिल्ली का वह प्रसंग। एक दिन आचार्य कृपलानी, हरिभाऊ उपाध्याय, जैनेन्द्रकुमारजी आदि अनेक लोग आए, बोले—‘आचार्यश्री! आज हम आपसे एक नई बात करने आए हैं।’ गुरुदेव ने उन्हें कहने की अनुमति प्रदान की। मैं पास ही बैठा था। वे बोले—‘अणुशक्ति से संत्रस्त इस विश्व को आज अणुव्रत की सबसे ज्यादा जरूरत है और आप अध्यात्म का नेतृत्व करने में हमें सबसे सक्षम व्यक्ति दिखाई देते हैं। हमारी प्रार्थना है कि आप अपने इस संप्रदाय के भार को किसी दूसरे को सौंप दें और पूरे विश्व के लिए अध्यात्म का नेतृत्व करें।’

हमें अध्यात्म का बल मिला है। जहां यह बल नहीं होता, धर्म के नाम पर झूठा प्रलोभन और आश्वासन मिलता है, वहां विडंबनाएं पनपती हैं, विकास नहीं होता। आज तेरापंथ धर्मसंघ अध्यात्म के उस शिखर पर है, जहां से निकला हुआ शब्द विश्व में गुंजायमान होता है। इस प्रसंग में याद आ रहे हैं श्रीमन्नानारायण के वे शब्द। महारौली के इसी अध्यात्म साधना केन्द्र में इक्कीस दिन के शिविर के दौरान उन्होंने कहा था—‘इस (तेरापंथ) मंच से जो भी बात निकलेगी, मेरा विश्वास है कि वह पूरे विश्व को प्रभावित करेगी। सारा संसार उसे सिर झुकाकर स्वीकार करेगा।’

समाधान का बल

पांचवां बल है—युग की समस्या को समाधान देने का बल। हमारे पास यह बल न होता तो हमारी आवाज कोई न सुनता। दिल्ली का यह लगभग दस माह का प्रवास समाधान उपलब्ध कराने का प्रवास रहा है। पूज्य गुरुदेव ने दिल्ली के लोगों की समस्या, राजनेताओं की समस्या, चिकित्सकों की समस्या, साहित्यकारों की समस्या, सबकी समस्याओं को समाधान दिया और वह समाधान इतना मान्य हुआ कि समाचारपत्रों और दूरदर्शन के द्वारा सारी दुनिया को पता चला। मैं मानता हूं कि जो धर्मगुरु युग की समस्या को नहीं जानता, जानता है और उसको

समाधान नहीं दे पाता, युग की नब्ज को नहीं पहचान पाता, कभी वह शक्तिशाली नहीं हो सकता।

पूज्य गुरुदेव युगप्रधान हैं। हमारी परंपरा में आचार्य बहुत हुए हैं। उनमें दो परंपराएं प्रसिद्ध रही हैं—वाचक परंपरा और युगप्रधान परंपरा। वाचक परंपरा के महान् आचार्य थे उमास्वाति आदि। युगप्रधान वह होता है, जो युग की भाषा को समझता है और उनकी समस्याओं का निदान करता है। पूज्य गुरुदेव ने युगप्रधान की इस परिभाषा को अपने कर्तृत्व से सार्थक किया है।

अनुशासन बल, सिद्धान्त बल, मनोबल, अध्यात्म बल और युग की समस्या को समाधान देने का बल—ये पांच बल जिसके पास हैं, वह शक्तिशाली है। तेरापंथ को ये पांचों बल मिले हैं। वह इस अर्थ में शक्तिशाली है। हमें सिर्फ एक काम करना है कि कोरी यात्रा नहीं करनी है। हमें यह चिंतन करना है कि धर्मसंघ को और अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए स्वयं का किस प्रकार नियोजन करें। मर्यादा-महोत्सव हमारे धर्मसंघ की रीढ़ है, इसे और अधिक मजबूत बनाएं।

* पदाभिषेक से पूर्व दिया गया पहला वक्तव्य।

४. आश्चर्य के पीछे छिपा महान् आश्चर्य

आश्चर्य और अति आश्चर्य। एक आचार्य स्वयं अपने उत्तराधिकारी के आचार्य पद का अभिषेक करे। आश्चर्य इसलिए कि तेरापंथ की आचार्य परंपरा में यह पहला घटना प्रसंग है। आश्चर्य इसलिए कि जैन परंपरा में भी ऐसा प्रसंग जानने को नहीं मिला कि एक समर्थ आचार्य ने अपने आचार्य पद का विसर्जन कर अपने शिष्य में आचार्य पद की प्रतिष्ठा की हो। यह विरल प्रसंग है, इसलिए आश्चर्य का विषय बन सकता है। किन्तु मेरी दृष्टि में इससे भी बड़ा एक आश्चर्य है, जिस पर शायद जन-समुदाय का ध्यान नहीं गया।

मुझसे पूर्व तेरापंथ की परंपरा में अब तक युवाचार्य की छह नियुक्तियां हुई हैं। उनका अवस्थामान इस प्रकार है :

युवाचार्य	किस आयु में
आचार्यश्री भारमलजी	२६ वर्ष
आचार्यश्री ऋषिरायजी	३० वर्ष
आचार्यश्री जीतमलजी	३३ वर्ष
आचार्यश्री मधराजजी	२३ वर्ष
आचार्यश्री माणकलालजी	३७ वर्ष
आचार्यश्री तुलसी	२२ वर्ष

पूज्य कालूगणी की युवाचार्य के रूप में साक्षात् नियुक्ति नहीं हुई। डालगणी ने उत्तराधिकार का पत्र लिखा। उस समय पूज्य कालूगणी की अवस्था ३३ वर्ष की थी। मेरी युवाचार्य के पद पर नियुक्ति हुई, उस समय मैं ५८ वर्ष का हो चुका था। सबसे बड़ी अवस्था में मैं युवाचार्य बना।

आचार्य बनने का अवस्थामान इस प्रकार है :

आचार्य	किस आयु में
आचार्यश्री भिक्षु	३४ वर्ष
आचार्यश्री भारमलजी	५६ वर्ष
आचार्यश्री रायचन्द्रजी	३१ वर्ष
आचार्यश्री जीतमलजी	४८ वर्ष
आचार्यश्री मघराजजी	४१ वर्ष
आचार्यश्री माणकलालजी	३७ वर्ष
आचार्यश्री डालचन्द्रजी	४५ वर्ष
आचार्यश्री कालूगणीजी	३३ वर्ष
आचार्यश्री तुलसी	२२ वर्ष

मेरी आचार्य पद पर नियुक्ति ७४ वर्ष की अवस्था में (१८ फरवरी १९६४) हुई।

कोई भी आचार्य इतनी प्रौढ़ अवस्था में न युवाचार्य बना और न आचार्य बना। यह एक आश्चर्य है। इस आश्चर्य के पीछे एक रहस्य है और उस रहस्य के पीछे छिपा हुआ है एक महान् आश्चर्य। किसी भी आचार्य ने अपने उत्तराधिकारी के निर्माण में इतना समय नहीं लगाया जितना कि पूज्य गुरुदेव ने लगाया। किसी भी आचार्य के निर्माण-कौशल की इतनी कसौटी नहीं हुई, जितनी पूज्य गुरुदेव के निर्माण कौशल की हुई है। किसी भी आचार्य के निर्माण कौशल को इतनी ख्याति नहीं मिली, जितनी पूज्य गुरुदेव को मिली है। वर्तमान के वैज्ञानिक युग में प्रतिभा को तराशने की जितनी जरूरत है, उतनी शायद अतीत में नहीं रही। कोई नियति का योग था कि एक ऐसा व्यक्ति हाथ में आ गया, जो गांव में जन्मा हुआ, प्रकृति से सरल, जिसने कभी स्कूल का दरवाजा नहीं देखा और जो अंतरिक्ष का जल ही पीता रहा। कितना कठिन था ऐसे व्यक्ति की प्रतिभा का निर्माण। शायद ज्ञात-अज्ञात रूप में एक संकल्प बन गया कि यह कार्य कठिन है, फिर भी मुझे करना है। कार्य प्रारंभ हो गया। कठिनाइयां आती गईं। फिर भी निर्माण के हाथ अपनी छेनी को चलाते रहे। आखिर एक दिन अपने निर्माण कौशल से जनता

२२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। इस अकल्पित घटना पर सब आश्चर्य चकित थे। वह आश्चर्य वर्तमान के आश्चर्य से अधिक बड़ा था। एक अबोध शिशु को प्रबुद्धता के उच्चासन पर आसीन कर देना क्या विश्व का महान् आश्चर्य नहीं है?*

* पदाभिषेक के अवसर पर आलेखित एक लघु-निबंध।

५. पदाभिषेक : शुभ भविष्य का मंगलपाठ

- आचार्य-पद के विसर्जन और आपके उत्तराधिकार की घोषणा तेरापंथ संघ के लिए अप्रत्याशित घटना है। अचानक दिया गया यह उत्तराधिकार आपको कैसा लगा? नए दायित्व की स्वीकृति के समय आपके मन में क्या प्रतिक्रिया हुई?
- उत्तराधिकार की कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई। वह युवाचार्य की नियुक्ति के साथ दिया जा चुका था। आचार्य-पद का विसर्जन और आचार्य-पद की नियुक्ति सचमुच मन को आश्चर्य एवं नवीन प्रस्थान से उत्पन्न प्रश्नों से आन्दोलित कर रहे थे। वास्तव में वह क्षण चिन्तन का नहीं, अनुभूति का था, इसलिए 'कैसा लगा' इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं है।
- अब तक तेरापंथ की अनुशासना, व्यवस्था और परंपरा एक आचार्य से जुड़ी रही। अब एक ओर आपके सामने आपके गुरु हैं, दूसरी ओर आपको आचार्य बनकर शासना करनी है। ऐसे क्षणों में क्या अंतर्द्वन्द्व नहीं उभरता?
- एक आचार्य की परंपरा हमारे संघ की अक्षुण्ण परम्परा है। उसमें न कोई अन्तर आया है और न कोई अन्तर आने वाला है। उससे होने वाले लाभ पूरे संघ के मानस को आकृष्ट किए हुए हैं इसलिए उसे बदलने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जल तालाब का हो या बरसते हुए बादल का, दोनों अन्तरिक्ष जल हैं। वर्तमान आचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य करता है। यह तेरापंथ का ध्रुव सिद्धान्त है। अन्तर इतना है कि पूर्ववर्ती आचार्य को तालाब का जल मिला और मुझे बरसते हुए मेघ का जल मिल रहा है। यह सौभाग्य का विषय है, अन्तर्द्वन्द्व का नहीं। पूर्ववर्ती

२४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

आचार्य के पथदर्शन को वर्तमान आचार्य साक्षात् प्राप्त कर सके, इस विरल घटना को इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ कहा जा सकता है।

- आचार्यत्व की घोषणा के बाद और दायित्व निर्वहन के क्षणों में आपकी अनुभूतियां क्या रहीं?
- गुरुदेव ने मुझे बार-बार अपने दायित्व के प्रति सजग रहने का संदेश दिया। मैंने अनुभव किया कि गुरु की उपस्थिति में दायित्व का निर्वाह करने वाले आचार्य को अधिक जागरूक और अधिक सहिष्णु रहने की अपेक्षा है। जयाचार्य ने आचार्य-पद का विसर्जन नहीं किया किंतु वे अपने युवाचार्य मघवा को दायित्व सौंपकर गण-चिन्ता से प्रायः मुक्त हो गए थे। वर्तमान स्थिति उस घटना का अग्रिम चरण है। कितना अच्छा हो, मघवा की अनुभूति मेरी अनुभूति में संक्रांत हो जाए।
- गुरुदेव तुलसी ने आपको अपने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि माना है। आप अपने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि क्या मानते हैं?
- मुझे गुरुदेव का शिष्य होने का सौभाग्य मिला, इसे मैं जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानता हूं। शिष्यत्व के साथ-साथ उनका अनुग्रह, सान्निध्य और प्रेरणा का सुयोग मिला, ये सब इसी महान् उपलब्धि की रश्मियां हैं।
- गणाधिपति तुलसी ने एक संगोष्ठी में कहा था—‘मैं आचार्य महाप्रज्ञ को अपने जीवन काल में अपने से अधिक यशस्वी आचार्य के रूप में देखना चाहता हूं।’ गुरु के ये शब्द अमिट विश्वास के प्रतीक हैं। गुरु के इस प्रबल विश्वास के पीछे आपकी साधना के कौन से मानक रहे हैं?
- मैं भाग्यवादी नहीं हूं, किन्तु भाग्य की सत्ता को अस्वीकार भी नहीं करता। मैं पुरुषार्थ में विश्वास करता हूं, किन्तु विवेकशून्य पुरुषार्थ में विश्वास नहीं करता। मेरा सर्वाधिक विश्वास आत्मा की विशुद्धि में है, लेश्या की विशुद्धि या भाव विशुद्धि में है। उस भावविशुद्धि ने गुरुदेव के मन में विश्वास के बीज बोए।

कोई भी छद्मस्थ मनुष्य औदयिक भाव से मुक्त नहीं होता।

उसमें औदयिक भाव-जनित अल्पताएं, कमियां और खामियां भी होती हैं। पूर्ण होने का दावा न कभी मैंने किया और न आज भी करता हूं, किन्तु भावविशुद्धि में अत्यधिक विश्वास रहा और मैं मानता हूं कि उस विश्वास ने ही गुरुदेव के मन में विश्वास उत्पन्न किया। अध्ययन, ज्ञानार्जन, चिन्तन, लेखन—ये सब विश्वास उत्पन्न करते हैं किन्तु मेरी दृष्टि में भावविशुद्धि इन सबसे अधिक उर्वर विश्वास-भूमि है।

- आपके जीवन का अधिकांश समय बौद्धिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक भूमिका में बीता है। इससे संघ व्यवस्था के साथ कुछ बाधा महसूस नहीं होती?
- बौद्धिकता, दार्शनिकता और आध्यात्मिकता से शून्य होकर कोई संघीय व्यवस्था करता है तो वह संघ का हित कम, अहित अधिक करता है। हमारी परम्परा में प्रत्येक आचार्य श्रुतसंपन्न, बुद्धिसंपन्न और अध्यात्म-सम्पन्न हुए हैं इसीलिए संघ की व्यवस्था सुन्दर और प्रभावी रही है। मैं श्रुतोपासना और आत्मोपासना करते हुए भी धर्म संघ की व्यवस्था से लम्बे समय से जुड़ा रहा हूं। अतः यह मेरे लिए न कोई नया कार्य है और न कोई बाधा का प्रश्न है। हां, समय का प्रश्न हो सकता है। नया कार्य इतना ही है कि संघीय व्यवस्था को श्रुतोपासना और आत्मोपासना की तुला के दूसरे पलड़े में समान स्थान देना अनिवार्य है।
- गुरुदेव ने अपने शासनकाल में अनेक विशिष्ट योजनाओं को नया रूप दिया। आप अपने कार्यकाल में क्या गुरु द्वारा संचालित योजनाओं को ही गतिशील बनाए रखना चाहेंगे या आप अपनी भूमिका पर नए प्रयोग, नए आयाम खोलना चाहेंगे। भविष्य का नया प्रारूप क्या है?
- गुरुदेव का व्यक्तित्व बहुत शक्तिशाली है, फलतः बहुआयामी रहा। उन्होंने अनेक नए-नए कार्य किए। अनेक दिशाओं में विकास किया। उन सब कार्यों को आगे बढ़ाना हमारा कर्तव्य है और धर्म है। विकास को हम नया मानें या प्राचीन का उन्नयन मानें। दोनों शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। मुझे अपने गुरु से जो विकास

२६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

के सूत्र मिले हैं, उनमें मुझे सबसे ज्यादा प्रिय है अनेकांत। मैंने उसको समझा है और जीया है। मैं उसे अपनी सफलता का सबसे बड़ा माध्यम मानता हूं। मैंने वीतरागता और अनेकान्त—दोनों को एक ही माना है और उसका अनुभव किया है। उसकी आगमिक मीमांसा और जीवन व्यवहार में अधिकतम उपयोग हो, यह मुझे इष्ट है और इस दिशा में मैं कुछ करना चाहता हूं।

- आपने इस वर्ष यह घोषणा की थी—दिल्ली, जयपुर, लाडनू—ये तीन मुख्य केन्द्र हैं। आपने दिल्ली को पहला, जयपुर को दूसरा और लाडनू को तीसरा केन्द्र घोषित किया। इसका उद्देश्य क्या है? इसके माध्यम से आप क्या कहना चाहते हैं?
- दिल्ली भारत की राजधानी है, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र है। दिल्ली में किया हुआ कार्य पूरे विश्व में सहज ही पहुंच सकता है। जैनविद्या, अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान, अहिंसा का प्रशिक्षण, जैन जीवनशैली, इनको जन-जन तक पहुंचाना हमारा लक्ष्य है। पहुंचाने की सुविधा की दृष्टि से दिल्ली का स्थान पहला, जयपुर का दूसरा और लाडनू का तीसरा है। इस क्रम का निर्धारण मैंने संप्रेषणीयता के आधार पर किया है।
- साधक-समण योजना का एक क्रान्तिकारी प्रारूप इन दिनों गुरुदेव ने प्रस्तुत किया है। इस योजना से आप किस प्रकार के भविष्य का संकेत देना चाहते हैं?
- हमारे पास कुछ है, उसे मैं मनोरथ नहीं मानता किन्तु यथार्थ मानता हूं। जो है, वह किसी एक समाज के लिए नहीं, पूरी मानव जाति के लिए कल्याणकारी है। हमारे साधु-साध्वियां, समण-समणियां तथा श्रावक-समाज के कार्यकर्ता उसे जनता तक पहुंचाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उस प्रयत्न को और शक्तिशाली बनाने के लिए और अधिक व्यक्तियों की अपेक्षा है। मेरा विश्वास है—साधक-समण श्रेणी इसमें बहुत उपयोगी बनेगी। इसका दूसरा लाभ यह है कि साधक-समण श्रेणी का सदस्य प्रशिक्षित साधक बनकर अपने लिए और अपने परिवार के लिए भी बहुत कल्याणकारी सिद्ध होगा। हमारे सामने दक्षता का प्रश्न बहुत बड़ा है। संस्था एक शक्ति है पर नम्बर दो

पर। पहले नम्बर की शक्ति दक्षता है। दक्षता का विकास इस श्रेणी से जुड़ा हुआ है, ऐसा विश्वास के साथ कहा जा सकता है।

- आचार्य बनने के बाद आपने संघ को दो उपहार दिए—विकास महोत्सव और विकास परिषद्। इनके प्रारूप-प्रकल्पना की पृष्ठभूमि क्या है? आप इनके द्वारा संघ को किस दिशा में ले जाना चाहते हैं?
- पूज्य गुरुदेव ने संघ का जो विकास किया है, उसे नियोजित ढंग से चलाना स्थायित्व के लिए अपेक्षित है। तेरापंथ की जो गरिमा बढ़ी है, उसके मुख्य हेतु हैं—मर्यादा और विकास। मर्यादा की उपयोगिता समझाने के लिए हमारे पास एक सशक्त माध्यम है मर्यादा-महोत्सव। विकास-महोत्सव विकास के महत्त्व को समझाने के लिए उतना ही सशक्त माध्यम बनेगा, यह हमारी धारणा है। कोई भी संघ अनुशासन और विकास के माध्यम से ही तेजस्वी बन सकता है। विकास-महोत्सव पूज्य गुरुदेव के पट्टोत्सव या आचार्य पदारोहण के दिन सदा गति और प्रगति की सूचना देता रहेगा।

यह नियोजन का युग है। अनियोजित विकास बहुत उपयोगी नहीं बनता। उसके सम्यक् नियोजन के लिए विकास परिषद् की कल्पना की गई। फलस्वरूप तेरापंथ का पूरा कार्यक्रम अनुशासित पद्धति से एकसूत्रता के साथ चलता रहे।

- इस वर्ष अणुव्रत की दृष्टि से दिल्ली में बहुत कार्य हुए हैं। जीवन-विज्ञान की योजना ने भी बल पकड़ा है। केन्द्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय और दिल्ली राज्य की स्कूलों के अध्यापकों के अनेक शिविर लग चुके हैं। प्रेक्षा के प्रति भी आकर्षण बढ़ा है। इसी वर्ष आचार्य विद्यानन्दजी ने कहा था—‘प्रेक्षाध्यान को झोंपड़ी से लेकर राष्ट्रपति भवन तक पहुंचाना चाहिए।’ ये उपक्रम कैसे राष्ट्रव्यापी बन सकते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज को छू सकते हैं?
- केवल एक ही अपेक्षा है, वह है प्रशिक्षण और प्रशिक्षण। जिनका जीवन पहले बोले और शब्दोच्चारण बाद में, ऐसे प्रशिक्षक बढ़ें, पुरुषार्थ इस दिशा में करना है। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान को व्यापक बनाने का यही सबसे बड़ा संचार माध्यम बन सकता है। तंत्र भी शक्तिशाली बने, इस अपेक्षा को गौण नहीं

किया जा सकता। अन्वेषण, प्रशिक्षण, पद्धति-तीनों की युगपत् अवस्थिति होने पर कार्य को आगे बढ़ाया जा सकेगा। विकास परिषद् उसमें बहुत सहयोगी बनेगी। स्वयं अच्छा बने बिना दूसरों को अच्छा बनाने के प्रयत्न में हमारा विश्वास नहीं है। केवल संचार-माध्यमों से होने वाली व्यापकता को हम अर्थहीन मानते हैं। सार्थक प्रयत्न करने के लिए स्वयं आध्यात्मिक बनकर दूसरों को आध्यात्मिक बनाना अपेक्षित है।

- आपके सामने एक ओर साधु-साध्वी समाज है, दूसरी ओर श्रावक-श्राविका समाज है। तीसरी ओर संपूर्ण मानव जाति है। एक आचार्य के रूप में आपका इनके लिए क्या संदेश है?
- अहंकार और ममकार का विसर्जन अध्यात्म के प्राणिक स्पन्दन हैं। आचार्य भिक्षु ने इन स्पन्दनों को संयोजित कर तेरापंथ की प्रतिमा का निर्माण किया था। उस प्रतिमा की निरन्तर प्रेक्षा करते रहें, यह पर्याप्त है सफल साधु या सफल साध्वी होने के लिए। जहां अहंकार नहीं है, वहां शेष बचती है विनम्रता। जहां ममकार नहीं है, वहां शेष बचती है सहिष्णुता। ये व्यवहार-पुरुष के दो चक्षु हैं। इनका उपयोग साधु संस्था को चिरजीवी बनाता है। साधुता की संजीवनी को प्राप्त कर विकास की दिशा में हमारे चरण आगे बढ़ें, प्रकाश की उपलब्धि अपने आप होगी।

श्रावक समाज धर्म के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण अपनाए। आचार्य भिक्षु ने सामाजिक अनुबंधों से दूर रखकर धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप की व्याख्या दी। श्रावक समाज उसे गहराई से समझने का यत्न करे। धर्मक्रान्ति अथवा आध्यात्मिक प्रयोग के साथ अपने चरण आगे बढ़ाए और इस नई धारा को जन-जन तक पहुंचाने की बात सोचे।

अर्थप्रधान युग है किन्तु अर्थ को सब कुछ न मानें। वैज्ञानिक युग है किन्तु विज्ञान को अन्तिम सत्य या परम सत्य न मानें। बौद्धिक या तार्किक युग है किन्तु बुद्धि और तर्क को ज्ञान की अन्तिम सीमा न मानें। यह सापेक्ष सत्य का दृष्टिकोण मानव जाति के शुभ भविष्य का मंगलपाठ होगा।

* आचार्य पदाभिषेक के प्रसंग पर दिया गया एक ऐतिहासिक साक्षात्कार।

६. नया दायित्व : नया प्रस्थान

हजारों-हजारों लोगों ने आश्चर्य के साथ सुना—‘आचार्य तुलसी ने आचार्य पद का दायित्व अपने उत्तराधिकारी युवाचार्य में प्रतिष्ठित कर दिया है।’ श्वास रोक कर सुना पर विश्वास नहीं हुआ। आचार्य युवाचार्य की नियुक्ति करता है, यह तेरापंथ की परंपरा है किन्तु आचार्य अपने अस्तित्व काल में अपने उत्तराधिकारी को आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करे, यह अभिनव आलेख है। अनजाना, अनसुना और अनपढ़ा, इसलिए विश्वास न होना आश्चर्य नहीं है। टेलीफोन की हजारों घंटियां बजीं और संवाद की सचाई को जानने की उत्सुकता बढ़ गई। आखिर जो हुआ, उसकी पुष्टि हो गई, फिर भी मन में प्रश्न की तरंगें उठती रहीं। यह क्यों हुआ? किस अन्तःप्रेरणा ने गुरुदेव को ऐसा करने के लिए प्रेरित किया? इन प्रश्नों का उत्तर कोई दूसरा नहीं दे सकता। अनुमान हर कोई कर सकता है पर साक्षात् दर्शन वही कर सकता है, जिसने नए पथ पर अपने चरण बढ़ाए हैं।

गुरुदेव ने जो किया, वह अचिंतित नहीं किया। विशेष उद्देश्य, विशेष हेतु और चिन्तन से किया है। उनके चिन्तन के सूत्र उन्हीं की भाषा में इस प्रकार हैं—

१. मैंने सोचा—तेरापंथ धर्मसंघ का कोई आचार्य इतने लम्बे समय (अट्ठावन वर्ष) तक शासन-सत्ता पर नहीं रहा। मैं सबसे अधिक रहा हूं। अब मुझे इससे निवृत्त होकर प्रायोगिक जीवन जीने का अभ्यास करना चाहिए।

२. जयाचार्य (तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य) ने शासन-सत्ता से निवृत्त रहने का प्रयोग किया था। उसमें और वर्तमान व्यवस्था में इतना अन्तर है कि जयाचार्य ने अपने युवाचार्य मघवा को एक प्रकार से आचार्य ही

३० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

बना दिया। संघ की सारणा, वारणा, आलोक्यणा देना आदि कार्य वे ही करते। उससे कुछ नया करने की बात मेरे मन में आई। 'अकडं करिस्सामि'—जो नहीं किया, वह करूं, यह मेरी मनोवृत्ति है। इस ऋषि मनोवृत्ति का उल्लेख अश्वघोष ने इन शब्दों में किया है—

*'राज्ञां ऋषीणां चरितानि तानि,
कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः।'*

इस मनोवृत्ति ने मुझे प्रेरित किया—मैं अपने युवाचार्य को आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करूं।

तेरापंथ के भाग्यविधाता आचार्य भिक्षु और भिक्षु शासन की परम्परा के अनुसार आचार्य अपने उत्तराधिकारी के रूप में युवाचार्य की नियुक्ति करते हैं और मैंने भी की है। पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने अपने युवाचार्य को आचार्य के रूप में नहीं देखा। मैं इसे देखना चाहता हूँ। इस चाह को मैंने आकार दे दिया।

३. मैंने सोचा—अस्सी वर्ष की अवस्था हो गई है। स्वास्थ्य भी अनुकूल नहीं है। विश्राम की अपेक्षा है। शासनसत्ता और अधिकार के बने रहने पर श्रम की अनिवार्यता होती ही है। श्रम कम करना है तो क्यों नहीं इस पद को युवाचार्य में प्रतिष्ठित कर दिया जाए।

४. मैंने सोचा—एक शिष्य आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित होकर अपने गुरु के प्रति जितना विनम्र हो सकता है, उसका निदर्शन अकृतज्ञ मनोवृत्ति वाले युग के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए। 'अणंतनाणोवगमोविसंतो'—इस आगमवाणी की सत्यता को प्रमाणित करना चाहिए।

५. मैंने सोचा—मेरे इस कार्य से युग को यह मार्गदर्शन मिल सकता है—एक समय सीमा के बाद पद, सत्ता, अधिकार आदि को किसी दूसरे में प्रतिष्ठित कर स्वयं को हल्का जीवन जीना चाहिए।

६. एक कल्पना ने जन्म लिया—'मैंने धर्म को निर्विशेषण बना दिया। अणुव्रत धर्म है किन्तु जैन, बौद्ध, वैदिक आदि किसी विशेषण से जुड़ा हुआ नहीं है। निर्विशेषण धर्म का प्रवर्तक स्वयं निर्विशेषण क्यों नहीं बने? 'तुलसी' यह नाम जनता के मन में घुल गया है। अब उसे

किसी विशेषण के पीठ पर बिठाने की जरूरत नहीं है।

७. मैंने सोचा—पद के बिना भी काम किया जा सकता है। इस धारणा का उज्जीवन होना चाहिए, जिससे कि पद के पीछे दौड़ने की मनोवृत्ति में अन्तर आए।

८. सत्ता और अधिकार पर रहा व्यक्ति मुक्त बात नहीं कह सकता। सत्ता से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति निःसंकोच अपनी बात जनता के सामने प्रस्तुत कर सकता है।

९. आज जैन संप्रदायों में आचार्यों की बाढ़ आ रही है। कहीं शिष्य कम और आचार्य अधिक न हो जाएं। इस समस्या का समाधान है—पद की अपेक्षा साधना का आकर्षण अधिक बढ़े।

तेरापंथ धर्मसंघ संगठन और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से बहुत विशाल संघ है। पूज्य गुरुदेव के नेतृत्व में समाज, राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र को कुछ ऐसे कार्यक्रम दिए गए, जो व्यापक हैं, किसी संप्रदाय की सीमा में आबद्ध नहीं हैं। फलतः तेरापंथ के प्रशंसकों और समर्थकों की संख्या अनुयायी वर्ग की संख्या से बहुत अधिक बढ़ी है। गुणवत्ता की दृष्टि से इतने विशाल संघ के दायित्व को अपने शिष्य में वही प्रतिष्ठित कर सकता है, जिसकी चेतना महान्, आध्यात्मिक अनुभूति से ओत-प्रोत तथा द्वैत से अद्वैत की ओर गतिशील है।

पूज्य गुरुदेव के अनुसार संप्रदाय बहुत उपयोगी, बहुत मूल्यवान् और शक्ति का स्रोत है, किन्तु अहिंसा अथवा अध्यात्म का क्षेत्र संप्रदाय से बहुत विशाल है। संप्रदाय और धर्म एक नहीं है, यह मंत्र-वाक्य महावीर की वाणी में पढ़ा। आचार्य भिक्षु ने उस मंत्र को आगे बढ़ाया। मानव-मात्र के लिए धर्म का द्वार खोला। पूज्य गुरुदेव ने अणुव्रत के माध्यम से उस मंत्र को व्यापक बना दिया। आचार्य तुलसी : इन्सानियत का देवता', 'मानवता का मसीहा'—ये लोकमत संप्रदाय के पारदर्शन की प्रतिध्वनियां हैं।

पूज्य गुरुदेव ने निर्णय किया है कि अब वे अणुव्रत अनुशास्ता के रूप में अधिक काम करेंगे। हिंसा की समस्याओं पर अधिक ध्यान केन्द्रित करेंगे। अहिंसा और शान्ति का क्षेत्र प्रमुख कार्यक्षेत्र होगा। गुरुदेव ने घोषणा की—“मैं अपनी साधना में लगूंगा, मानवता अथवा

३२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

चरित्र विकास के लिए कार्य करूंगा।” इस घोषणा ने हमारे मानस को आन्दोलित किया। अहिंसा और चरित्र विकास के लिए काम किया जाए, यह बहुत प्रसन्नता की बात है, किन्तु जिस तेरापंथ धर्मसंघ को छह दशक तक ज्योतिर्मय बनाया और बनाए रखा, वह कभी नहीं चाहता—ज्योति की एक भी रश्मि कम हो। मैंने और मेरे साथ पूरे धर्मसंघ ने अभ्यर्थना के स्वर में कहा—“गुरुदेव! हमारे धर्मसंघ को आपका संरक्षण, छत्रछाया और पथदर्शन बराबर मिलता रहे। इस हार्दिक अनुरोध को स्वीकार कर आप ‘गणाधिपति’ बने रहने की स्वीकृति दें।”

पूर्व न्यायाधीश श्री सोहनराज कोठारी ने ठीक लिखा है—“गुरुदेव ने सत्ता अपने उत्तराधिकारी में प्रतिष्ठित कर संरक्षण स्वीकार किया तब लगा—राष्ट्रपति राष्ट्रपिता बन गया, शासनाध्यक्ष संरक्षक बन गया।”

जैनेन्द्र, आचार्य कृपलानी, हरिभाऊ उपाध्याय आदि दिवंगत आत्माएं भी अपनी चिरपालित आकांक्षा पूर्ति पर प्रसन्न होंगी। जैनेन्द्रजी की आकांक्षा थी—‘आचार्यश्री! आप तीर्थकर बनें। तीर्थकर बने बिना मानवता के हितों की संपूर्ति नहीं की जा सकती।’ आचार्य कृपलानी, हरिभाऊ उपाध्याय आदि की आकांक्षा थी—‘वर्तमान युग को अध्यात्म की सबसे अधिक जरूरत है। हमारी दृष्टि में आप अध्यात्म का नेतृत्व करने में सक्षम हैं इसलिए आप अपने संघ का दायित्व किसी शिष्य को सौंपकर विश्व हित के लिए अध्यात्म का नेतृत्व स्वीकार करें।’

पूज्य गुरुदेव ने अध्यात्म जगत् का नेतृत्व अपने हाथ में लेकर युगधारा को बदलने की दिशा में नई ऊर्जा का स्रोत उपलब्ध किया है। आपकी वाणी में वह ओज होगा, जिसे सुनने की उत्सुकता जन-जन के मन में होगी।

इस घटना का भविष्य उज्वल होगा, उसके लिए आज भविष्यवाणी करना शीघ्रगामी प्रयत्न होगा। यह बड़े क्षेत्रों में काम करने वाले सभी लोगों के लिए एक प्रभावी बोध पाठ होगा, यह असंदिग्ध भाव से कहा जा सकता है।

* पूज्य गुरुदेव के पद विसर्जन के संदर्भ में लिखित निबंध।

७. विकास महोत्सव

अनुशासन और विकास—दोनों में साहचर्य का सम्बन्ध है। अनुशासन में विकास के बीज छिपे रहते हैं और विकास अनुशासन से प्राणवायु लेकर जीवित रहता है। तेरापंथ धर्मसंघ ने इस साहचर्य का सतत समादर किया है, अनुशासन और विकास का निरंतर मूल्यांकन किया है।

आचार्य भिक्षु ने एक आध्यात्मिक प्रासाद का निर्माण किया। उसकी पहली भूमिका है आचार और विचार की पवित्रता। दूसरी भूमिका है अहं और मम का विसर्जन। तीसरी भूमिका है अनुशासन और चौथी भूमिका है विकास। तेरापंथ के तीसरे आचार्य का युग विकास की भूमिका का युग माना जाता है। आचार्य भिक्षु और आचार्य भारीमालजी का शासनकाल पूर्ववर्ती तीन भूमिकाओं को सुदृढ़ बनाने का काल है। तृतीय आचार्य का शासनकाल चतुर्थ भूमिका के निर्माण का काल है—

साधु सतंतर आसरे हो जी
दिख्या लीधी गणमाहि ।
साधियां एक सौ सतसठ आसरे,
ऋषराय बरतारा माहि महाराज॥
साधु सतसठ आसरे,
हो जी समणी एक सौ तंयाली उनमान ।
सर्व दोय सौ दस रे आसरे,
पे' ली परभव पोहतां जान महाराज॥

जयाचार्य के शासनकाल में विकास की गति तेज होती है। उन्होंने अनुशासन को प्राणवान् बनाए रखने के लिए वि. सं. १६२० में मर्यादा महोत्सव की स्थापना की। वह संघपुरुष के हृदय की धड़कन

३४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

और उसके जीवन का श्वासोच्छ्वास बना। मर्यादा महोत्सव का निष्ठापत्र ही तेरापंथ की प्राण-प्रतिष्ठा है।

जयाचार्य के शासनकाल में साहित्य, कला, अध्ययन, वक्तृत्व, यात्रा, शिष्य-संपदा आदि अनेक क्षेत्रों में विकास के चरण आगे बढ़े, उनके उत्तरवर्ती आचार्य-त्रय ने विकास के चरणों का अनुगमन किया। अष्टम आचार्य कालूगणी ने विकास की गति को और अधिक तेज करने के लिए कुछ अभिनव दिशाएं खोलीं। गति में तीव्रता लाने का दायित्व अपने उत्तराधिकारी को सौंप दिया।

आचार्य तुलसी का शासन-काल विकास के ऊर्ध्वारोहण का काल है। विकास लक्ष्य-शून्य नहीं होता। लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने का नाम है विकास। लक्ष्य जितना महान् होता है, उतनी ही गति की संभावना रहती है।

● पूज्य गुरुदेव ने लक्ष्य बनाया—साधु-साध्वियों में शिक्षा का विकास होना चाहिए। एक दशक से अधिक समय इस कार्य की संपन्नता में लगा और हमारे पैर मंजिल तक पहुंच गए।

● लक्ष्य बना—धर्म को रूढ़िवाद के कटघरे से निकाल कर उसके सार्वभौम स्वरूप को जनता के सामने प्रस्तुत करना चाहिए। अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। असाम्प्रदायिक धर्म की आचार संहिता ने जनमानस को आन्दोलित कर दिया।

● लक्ष्य बना—सार्वभौम धर्म की अवधारणा जन-जन तक पहुंचनी चाहिए। अणुव्रत यात्रा का दौर शुरू हुआ। राष्ट्र की आत्मा के साथ एकात्मकता का वातावरण बना।

● लक्ष्य बना—जैन विद्या, अनेकांत, अहिंसा और अपरिग्रह का सिद्धान्त साहित्य बनकर जनता तक पहुंचना चाहिए। अनेक लेखनियां अविराम गति से चलने लगीं। विपुल साहित्य के साथ-साथ अनेक पत्र-पत्रिकाएं अस्तित्व में आईं—जैन भारती, प्रेक्षाध्यान, युवादृष्टि, तुलसी प्रज्ञा, अणुव्रत, विज्ञप्ति आदि।

● लक्ष्य बना—आध्यात्मिक विकास आवश्यक है। धर्म में उपासना प्रमुख बनी हुई है। उसका विकल्प है—चरित्र का विकास। अणुव्रत आन्दोलन उसकी संपूर्ति कर रहा है। किन्तु नैतिकता को भी सुदृढ़

आधार की जरूरत है। वह आधारभूमि बन सकता है अध्यात्म।

सम्प्रदाय, उपासना, क्रियाकाण्ड, इनमें मतभेद और विवाद हो सकते हैं। अध्यात्म अपनी अनुभूति है, स्वयं की चेतना का जागरण है, इसलिए वह सब विवादों से परे है। इस वैज्ञानिक युग में वही सर्वमान्य धर्म बन सकता है। आध्यात्मिक विकास के लिए प्रेक्षाध्यान का प्रारंभ हुआ। वह अपनी आध्यात्मिकता के कारण सर्वमान्य हो रहा है।

- लक्ष्य बना—शिक्षा की प्रणाली सर्वांगीण होनी चाहिए। जीवन-विज्ञान की योजना बनी। कार्यारंभ हो गया। शिक्षा के क्षेत्र में उसका मूल्यांकन किया जा रहा है। दिल्ली, बोकारो जैसे क्षेत्रों में उसके प्रशिक्षण और प्रयोग सघन बन रहे हैं।

- लक्ष्य बना—अहिंसा का प्रशिक्षण होना चाहिए। केवल उपदेश और प्रचार से उसका विकास नहीं होता। अहिंसा प्रशिक्षण की प्रविधि तैयार की गई और यत्र-तत्र उसका प्रयोग भी किया गया।

- लक्ष्य बना—जैन विद्या के अध्ययन, शोध, अनुसंधान और प्रयोग का कार्य विधिवत् प्रारंभ होना चाहिए। चिन्तन का परिणाम आया। जैन विश्व भारती की स्थापना हुई। उसका उत्तर चरण है—जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)।

पूज्य गुरुदेव ने अनेक स्वप्न लिए। हर स्वप्न लक्ष्य बना और हर लक्ष्य ने अपनी पूर्ति के संसाधन जुटाए। फलस्वरूप ज्ञान, दर्शन और चारित्रोन्मुखी प्रवृत्तियों का विस्तार हुआ।

वि. सं. २०५० माघ शुक्ला सप्तमी (१८ फरवरी १९६४) के दिन आपने आचार्यपद का विसर्जन कर मुझे आचार्यपद पर नियुक्त किया। वि. सं. २०५१ का चातुर्मासिक प्रवास दिल्ली में हुआ। एक दिन गुरुदेव ने कहा—इस वर्ष मेरा पट्टोत्सव नहीं मनाया जाएगा। मैं अपने आचार्यपद का विसर्जन कर चुका हूँ, फिर पट्टोत्सव क्यों मनाया जाए? गुरुदेव की यह बात हृदयंगम नहीं हुई। मेरी भावना थी—पट्टोत्सव पूर्ववत् मनाया जाए किन्तु गुरुदेव का बार-बार उपरोध रहा—पट्टोत्सव न मनाया जाए। इस प्रतिवादी विचार से एक संवादिता का जन्म हुआ। मैंने निर्णय किया—पट्टोत्सव को नया रूप दिया जाए, जिससे गुरुदेव की भावना और हमारी भावना—दोनों के मिश्रण से नई प्रजाति बन जाए। वह संवादी

३६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

प्रणाली है—विकास महोत्सव।

जैसे अनुशासन का प्रतीक पर्व है—मर्यादा-महोत्सव वैसे ही विकास का प्रतीक पर्व है—विकास-महोत्सव। पूज्य गुरुदेव ने एक से अधिक बार कहा—प्रवृत्तियों का विस्तार बहुत हो चुका है। अब इनका नियोजन होना जरूरी है। इस नियोजन की वार्ता और विकास-महोत्सव की परिकल्पना से तेरापंथ विकास परिषद् का उद्भव हुआ। विकास-महोत्सव के साथ तेरापंथ विकास परिषद् की कल्पना जुड़ गई। अमृत-संसद को भी नया रूप मिल गया।

तेरापंथ विकास परिषद् की नौ इकाइयां हैं। इनमें सारी प्रवृत्तियों का नियोजन किया गया है :

इकाई

संबद्ध संस्थाएं

१. तेरापंथ, जैनधर्म, जैनविद्या,

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी

महासभा

कर्मणा जैन, ऐतिहासिक स्मारक

अ.भा.तेरापंथ युवक परिषद्

अ. भा.तेरापंथ महिला मण्डल

अ. भा. तेरापंथ स्मारक समिति

२. जैन विश्व भारती संस्था

जैन विश्व भारती

(मान्य विश्वविद्यालय)

३. अणुव्रत

अखिल भारतीय अणुव्रत समिति,

अखिल भारतीय अणुव्रत न्यास

अणुव्रत विश्व भारती

प्रेक्षाध्यान

अध्यात्म-साधना-केन्द्र (दिल्ली)

तुलसी अध्यात्म नीडम्

(जैन विश्व भारती)

जीवन-विज्ञान

जीवन-विज्ञान अकादमी,

(जैन विश्व भारती)

४. अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र

अणुविभा

अणुव्रत इण्टरनेशनल

अनेकांत इण्टरनेशनल

५. साहित्य

आदर्श साहित्य संघ

जैन विश्व भारती (प्रकाशन-प्रसार)

६. शिक्षा
 ७. जनसंपर्क, प्रसार
 ८. इतिहास
 ९. समीक्षा

जय तुलसी फाउंडेशन
 तेरापंथ विकास परिषद्
 जैन विश्व भारती संस्थान
 (मान्य विश्वविद्यालय)

प्रत्येक इकाई के एक या उससे अधिक नियोजक हैं। उन नियोजकों का समुदाय ही नियोजन मण्डल के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। अमृत-संसद भी उस विकास-परिषद् का एक अंग है।

पूज्य गुरुदेव ने आचार्य पद का दायित्व संभाला तब तेरापंथ की एक संस्था थी—श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा। इन छह दशकों में प्रवृत्तियों के साथ संस्थाओं का भी विस्तार हुआ है।

उन सबकी प्रवृत्तियां नियोजित हों, कार्य की पुनरावृत्ति न हो, इस दृष्टि से नियोजन के माध्यम की अपेक्षा हुई और उसका माध्यम बना तेरापंथ विकास परिषद्।

पुरुषार्थ के चार प्रयोजन हैं—

१. अलब्ध को पाने की इच्छा
२. लब्ध की प्रयत्नपूर्वक रक्षा
३. रक्षित का संवर्धन
४. संवर्द्धित का समुचित नियोजन।

हम असीम विकास की कल्पना को मूल्य नहीं देते। जो विकास मानव की समस्याओं को सुलझाने में सहयोगी न बने, मानवीय अस्तित्व के लिए खतरा बने, वह हमें इष्ट नहीं है। हमारा सीमा और सापेक्षता में विश्वास है। विकासमूलक प्रवृत्तियों के नियोजन का तात्पर्य यही है कि ऊंचाई के साथ गहराई भी बढ़े। छितरा हुआ जल भूमि की आर्द्रता के लिए उपयोगी हो सकता है, किन्तु उससे बिजली पैदा नहीं की जा सकती, उस पर जलपोत भी नहीं चल सकते। थाली में जल है। उसमें चिड़िया नहा सकती है, किन्तु नौका नहीं चल सकती।

तेरापंथ धर्मसंघ हमारे विकास का मूल आधार है। आचार्य भिक्षु ने जो विचार, सिद्धान्त, दृष्टिकोण और अनुशासन दिया, उसकी ऊंचाई और गहराई दोनों बढ़े, यह तेरापंथ विकास परिषद् की केन्द्रीय नीति है।

३८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

उसके आधार पर ही इस सार्वभौम कार्यक्रम का निर्देशन और संचालन कर सकते हैं।

विकास की गति में दो बड़े विघ्न हैं—

१. अहं

२. एकांगी दृष्टिकोण।

हमें समर्पण का मंत्र मिला है और अनेकांत का दर्शन मिला है। समर्पण सत्य के प्रति, सिद्धान्त के प्रति, अनुशासन के प्रति, संघ और संघपति के प्रति। अहं के विघ्न का विनाशक है समर्पण। अनेकान्त पूर्वाग्रह के निवारण का अमोघ उपाय है।

हमारे विकास की दिशा है आध्यात्मिक उन्नयन। विकास के साधन हैं मस्तिष्कीय प्रशिक्षण और हृदय परिवर्तन। विकास की सीमा है साधन-शुद्धि का विचार।

तेरापंथ धर्मसंघ के पास मर्यादा महोत्सव का दीप और विकास महोत्सव का चक्षु विद्यमान है। हम इन दोनों का उपयोग करें, सत्य को देखें और उसके सहारे आगे बढ़ें।

मेरी प्रत्येक सृजनात्मक प्रवृत्ति, रचनात्मक दृष्टिकोण और कल्पना पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा का इतिहास है। विकास महोत्सव उन्हीं की अक्षत प्रेरणा का प्रसाद है। यह हमारे धर्मसंघ की प्रगति के लिए ज्योति-स्तंभ बनेगा।*

* विकास महोत्सव पर दिया गया वक्तव्य।

८. विकास महोत्सव : आधार-पत्र

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ में नए आयाम उद्घाटित किए, जिससे इतिहास में नए अध्याय का सृजन हुआ। आज से एक सौ तीस वर्ष पूर्व तेरापंथ के भाग्यविधाता जयाचार्य ने तेरापंथ की भाग्यलिपि में कुछ नए अक्षर लिखे मर्यादा, व्यवस्था और अनुशासन में रहने वाला संघ ही नया विकास, नया विश्वास पैदा कर सकता है। उसके सामने विकास का असीम अवकाश है। पदार्थ असीम नहीं होता, अध्यात्म जैसा शाश्वत तत्त्व ही असीम हो सकता है। एक सौ तीस वर्ष बाद महोत्सव की शृंखला में एक नई कड़ी जुड़ रही है—विकास महोत्सव की। किसी संघ में मर्यादा का महोत्सव मनाया जाता है, विकास का महोत्सव मनाया जाता है, हमने नहीं सुना। हमारे संघ की नियति ही शुभ है। यहां अध्यात्म और विकास के नए-नए आयाम खुलते जा रहे हैं और भविष्य में खुलते रहेंगे।

अब तक हम मर्यादा महोत्सव, भिक्षु चरमोत्सव और वर्तमान आचार्य का पट्टोत्सव—ये तीन महोत्सव मनाते रहे हैं। आज से इसी क्रम में विकास महोत्सव जुड़ रहा है। पूज्य गुरुदेव के पट्टोत्सव का दिन अब से विकास-महोत्सव के रूप में मनाया जाएगा। पूज्य गुरुदेव! तेरापंथ है, तब तक विकास-महोत्सव मनाया जाता रहेगा। इसका आधार हमारा विकास महोत्सव का परिपत्र है। उसमें विकास-महोत्सव की पृष्ठभूमि, उद्देश्य और आधारभूत तत्त्वों की प्रस्तुति है।

परिपत्र की भाषा

‘धर्म-शासन की शक्ति का उन्नयन हो, यह गण के प्रत्येक सदस्य का पवित्र मनोरथ होना चाहिए। शक्ति का उन्नयन विकास की प्रक्रिया के

द्वारा संभव है। उत्तरोत्तर विकास नहीं होता, तब शक्ति कुंठित हो जाती है, इसलिए विकास की प्रक्रिया निरन्तर चलनी चाहिए। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का प्रवर्तन (वि. सं. १८१७, ईसवी सन् १७६०) किया। उन्होंने विकास का बीज-वपन कर दिया। साहित्य के क्षेत्र में उनका अवदान निश्चित रूप से अविस्मरणीय है।

अनुस्मृति है कि हेमराजजी स्वामी की दीक्षा (वि. सं. १८५३, ई. सन् १७६६) के पश्चात् संघ का चतुर्मुखी विकास शुरू हुआ। श्रीमज्जयाचार्य विकास के मेरुदण्ड बने। उन्होंने अनुशासन, मर्यादा, व्यवस्था, साहित्य आदि अनेक क्षेत्रों में विकास के कीर्तिमान स्थापित किए। मर्यादा-महोत्सव उनकी दूरदर्शी दृष्टि का परिणाम है।

प्रत्येक आचार्य ने अपने-अपने समय में विकास की कोई न कोई रेखा खींची। तेरापंथ के आधुनिक विकास के मंत्रदाता हैं—पूज्य कालूगणी। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत विद्या का बीज-वपन कर तेरापंथ धर्म संघ को मध्यकालीन जैन युग में प्रवेश करवा दिया तथा साथ-साथ आधुनिक युग में प्रवेश का द्वार खोल दिया।

विकास के शलाकापुरुष हैं—आचार्यश्री तुलसी। आचार्यवर ने शिक्षा, साहित्य, शोध, आगम-सम्पादन, अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान, अहिंसा-प्रशिक्षण, विहार-क्षेत्र-विस्तार, समण श्रेणी, विदेश-यात्रा आदि विकास के नए-नए आयाम उद्घाटित किए। गुरुदेव की सृजनात्मक प्रतिभा, कल्पना शक्ति और कर्मजा मति ने विकास का मार्ग प्रशस्त किया। हमारी विकास की गति निरन्तर आगे बढ़े, इसलिए विकास-महोत्सव की परिकल्पना की गई है।

आचार्यश्री तुलसी की अभिवंदना में भाद्रव शुक्ला नवमी का दिन विकास महोत्सव के रूप में मनाने का निश्चय किया गया है।

भाद्रव शुक्ला नवमी के दिन आचार्य तुलसी आचार्य-पद पर अभिषिक्त हुए। प्रतिवर्ष यह दिन 'पट्टोत्सव' के रूप में मनाया जाता है। वि. सं. २०५० माघ शुक्ला सप्तमी, मर्यादा-महोत्सव के दिन सुजानगढ़ में पूज्य गुरुदेव ने आचार्य-पद का दायित्व युवाचार्य महाप्रज्ञ में प्रतिष्ठित कर दिया। अतः अब 'पट्टोत्सव' विकास-महोत्सव के रूप में मनाया जाएगा।

विकास का आधार

मर्यादा-महोत्सव जैसे हमारी संघीय व्यवस्था के लिए आधार-स्तंभ है, वैसे ही विकास-महोत्सव संघीय विकास के लिए आधार-स्तंभ रहेगा। तेरापंथ के विकास के मौलिक आधार हैं—

- अनुशासन—एक आचार्य का नेतृत्व
- अध्यात्म
- अप्रमाद।

अनुशासन के बिना विकास की प्रक्रिया को सुनियोजित ढंग से आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

विकास की दिशाएं

आध्यात्मिक दृष्टि से विकास के पांच बिन्दु हैं—

- ज्ञान
- चारित्र
- दर्शन
- तप
- वीर्य

संघीय दृष्टि से विकास के चार बिन्दु हैं—

- पारस्परिक सौहार्द
- श्रावक समाज की सार-संभाल और संवृद्धि
- सेवा
- विहार क्षेत्र।

सार्वजनिक दृष्टि से विकास के पांच बिन्दु हैं—

- जन-सम्पर्क
- साहित्य
- वक्तृत्व
- संगीत
- कला

विकास के साधन—

- शिक्षा
- प्रेक्षाध्यान
- स्वाध्याय
- जीवन-विज्ञान
- अणुव्रत
- अहिंसा-प्रशिक्षण
- आगम अनुसंधान।

तेरापंथ धर्मसंघ में जैसे मर्यादा की अक्षुण्ण परंपरा है, वैसे विकास की भी अक्षुण्ण परम्परा रहे। आचार्य का कर्तव्य होगा कि वह इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखे। पूरे संघ का कर्तव्य है कि वह इस

४२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

कार्य में संभागी रहे।

विकास के तीन आयाम हैं—

● आगे बढ़ना, रुकना, ● पीछे मुड़कर देखना, ● समीक्षा करना।

विधि और निषेध—दोनों विकास के अंग हैं। प्रवर्तन और निवर्तन दोनों का समन्वय करके ही विकास की प्रक्रिया को स्वस्थ रखा जा सकता है। कोरी विधि उच्छृंखलता का रूप ले सकती है, कोरा निषेध रूढ़िवाद का रूप ले सकता है। इसलिए विधि और निषेध दोनों का समन्वित प्रयोग करना चाहिए। कोई भी समाज या संगठन विकास को आगे बढ़ाए बिना उपयोगी नहीं बन सकता इसलिए विकास महोत्सव की स्थापना आवश्यक है। इससे धर्मसंघ तेजस्वी बना रहेगा।

अब तक चतुर्मास, शेषकाल में साधु-साध्वियों के विहार और अवस्थान की प्रार्थना मर्यादा महोत्सव के अवसर पर की जाती रही है। वह समय निर्णय और घोषणा का है। व्यवस्था समीचीन रूप से की जा सके, इसलिए अपेक्षित हो गया है कि श्रावक समाज अपनी प्रार्थना विकास महोत्सव के अवसर पर प्रस्तुत करे, जिससे भविष्य का निर्णय करने में सुविधा हो। केन्द्र के चतुर्मास और मर्यादा-महोत्सव की प्रार्थना भी विकास-महोत्सव से प्रारंभ की जा सकती है। गत वर्ष के विकास का लेखा-जोखा और आगामी वर्ष की योजना तथा विकास-कार्य में साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं की नियुक्ति की परिकल्पना भी इसी समय की जाए, यह अपेक्षित है।

६. नया दायित्व : सबसे बड़ी कसौटी

पूज्य गुरुदेव! आप बहुत शक्तिशाली हैं। आपमें असीम शक्ति है। आपको राहत लेने की भी जरूरत नहीं और आपको कोई राहत दे सके, यह भी एक चिन्तनीय प्रश्न है। किन्तु आज आप स्वयं भारी हैं, गुरु हैं पर स्वयं राहत लेना भी नहीं चाहते और दूसरे को भारी बना देना चाहते हैं। यह दोनों बातें बहुत ही अजीब-सी हैं। मेरा सारा जीवन मेरे सामने चित्रपट की भांति अंकित है। मैं जिस दिन दीक्षित होकर आया, पूज्य आचार्य कालूगणीजी ने कहा—तुम मुनि तुलसी के पास जाओ। वहीं तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा होगी। मैं चला गया। उनके पास रहा। कैसे रहा, यह आप लोगों को बताऊँ तो शायद नहीं भी मानें। जानने वाले मानते हैं, जानने वाले भी बैठे हैं, जिन्होंने हमारे बचपन को देखा है। साक्षी हैं, जो जानते हैं। मैं आपको नहीं कह सकता कि आचार्य तुलसी के प्रति समर्पित हुआ, लोग कहते हैं ऐसा। किन्तु मैं इस बात को नहीं मानता। जहां अद्वैत हो, वहां समर्पण की बात ही कैसे हो सकती है? मैंने देखा, अनुभव किया, कोई ऐसा अज्ञात संस्कार था, जिसे मैं स्वयं नहीं समझता।

मैं मानता हूँ कि मेरे जैसे निश्चिन्त व्यक्ति बहुत कम होंगे। मैंने अपनी कोई चिन्ता नहीं की। कभी नहीं की और करने की मुझे जरूरत नहीं। जब मेरे इतने बड़े चिन्ताकार का आशीर्वाद मेरे माथे पर है, तो मुझे चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं होगी। आप देखें, आज का साधु-साध्वी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता होगा कि पछेवड़ी ओढ़नी है; कब ओढ़नी है और कब सिलवानी है साध्वियों से। मुझे कोई पता नहीं होता। बस, यंत्रवत् होता है तो काम हो जाता है और नहीं होता है तो चलता रहता है। मुझे कभी चिन्ता नहीं होती। इतनी निश्चिन्तता

का जीवन मैंने जीया। जब कोई आचार्य बनता है, प्रसन्नता होती है। मैं यह सच कहता हूँ कि आचार्य तुलसी जब आचार्य बने तो सबको बहुत प्रसन्नता हुई, पर मुझे बहुत प्रसन्नता नहीं हुई। इसलिए नहीं हुई कि मैंने सोचा—जहाँ मैं रहता था, मेरे सारे जीवन का संबंध था, अब नहीं रहेगा। आचार्य तुलसी पहले तो मेरे थे और अब सबके बन गए। मैं बहुत कट गया।

मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। पूज्य गुरुदेव ने मुझे पर एक नया दायित्व सौंपा है। और कसौटियां तो मेरी बहुत होती रही हैं। समय-समय पर अनेक परीक्षाएं हुई हैं, पर आज सबसे बड़ी परीक्षा और कसौटी इन्होंने करनी चाही है। आज तक गुरुदेव ने मुझे जो भी काम सौंपा, मैं उसमें शत-प्रतिशत सफल हुआ हूँ। मैं अपने आत्म-विश्वास के साथ पूज्य गुरुदेव के चरणों में यह प्रार्थना उपस्थित करता हूँ कि आपने जो कार्य सौंपा है, आपके आशीर्वाद से यह भी शत-प्रतिशत सफल होगा, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।

परम पूज्य आचार्य भिक्षु और आचार्य भिक्षु की समूची परंपरा में आचार्य कालूगणी तक सभी आचार्यों की जो एक महान् परंपरा और जिस परंपरा को पूज्य गुरुदेव इतने लम्बे समय तक एक प्रगति के साथ जिस प्रकार अग्रसर कर रहे हैं, उसी कड़ी में मुझे जोड़कर और प्रगति का भागीदार बनाया है। मैं कृतज्ञता जैसे छोटे शब्द का प्रयोग करना नहीं चाहता। गुरुदेव ने अनन्त उपकार से मुझे उपकृत बना दिया है, उसके लिए कृतज्ञता की बात बहुत छोटी है।

गुरुदेव! मैं अब तक अपने साज में था और मेरे पास कुछ संत थे। काम करता था। आज मैं किसी व्यक्ति विशेष का नहीं रहा। न मेरा साज रहा, न मेरे पास रहने वाले साधु रहे, न कोई दूसरे रहे। मैं तो अब सबका हो गया हूँ। मैं आशा करता हूँ कि साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका सब मुझे मेरा काम करने में पूरा सहयोग देंगे। मैं चाहूँगा कि पूज्य गुरुदेव का यह आशीर्वाद, असीम करुणा, मुझे निरन्तर उपलब्ध रहे। मैं अपने महान् आचार्यों की परंपरा को और उज्ज्वल बना सकूँ, तेरापंथ धर्मसंघ के गौरव को और बढ़ा सकूँ, यही आशीर्वाद आचार्यवर से चाहता हूँ।

* युवाचार्य मनोनयन के अवसर पर प्रदत्त वक्तव्य।

१०. गुरु का विश्वास: उज्ज्वल भविष्य का उच्छ्वासास

मैं सबसे पहले अपने उस गुरु को नमस्कार करता हूं, जिसने मेरी प्रज्ञा को जागृत किया और चित्त को निर्मल किया, जो भिन्न नहीं है। गुरु कभी भिन्न नहीं होता है। गुरु हो और भिन्न हो तो मानना चाहिए कि वह गुरु नहीं है। गुरु गुरु ही होगा। यह नहीं हो सकता कि गुरु भी हो और आलोच्य भी हो। दोनों बातें कभी एक साथ नहीं होतीं। मेरा बचपन का एक संकल्प था कि जिसको गुरु मान लिया, उसे गुरु ही मानना है, उसको और कुछ नहीं मानना है। गुरु भी मानते चले जाएं, और सब कुछ भी करते चले जाएं, इससे दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना जीवन में और कुछ हो नहीं सकती। गुरु अभिन्न ही होगा, आत्मा से भिन्न नहीं होगा।

सफलता का सूत्र

मैं मानता हूं, मेरे जीवन की सफलता का एक सूत्र था—मैंने मुनि तुलसी और आचार्य तुलसी को गुरु रूप में स्वीकार किया। मैं वैसा कोई भी काम नहीं करूंगा, जिससे मुनि तुलसी और आचार्य तुलसी अप्रसन्न हों। इस सूत्र ने मुझे बार-बार उबारा और मेरा पथ प्रशस्त किया।

मैं आज इस श्रमण-श्रमणी परिषद् में गुरुदेव के प्रति अपनी सारी श्रद्धा समर्पित करना चाहूंगा और मानता हूं कि यह पुनरावृत्ति ही कर रहा हूं। संस्कारवश तो मैंने जिस दिन दीक्षा ली थी, उस दिन श्रद्धा ही नहीं, अपने आपको सर्वथा समर्पित कर चुका था। मेरे पास ऐसा कुछ बचा नहीं था, जिसे मैं अपना कहूं। पर इस अवसर पर उस बात को पुनः दोहराना भी चाहता हूं और इसलिए चाहता हूं कि पूज्य गुरुदेव ने अपने विश्वास को दोहराया है। मुझ पर अपना भरोसा दोहराया है। मैं

४६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

मानता हूँ कि विश्वास मुझ पर हमेशा बना रहा है और उसका सबसे बड़ा साक्षी मैं स्वयं हूँ कि मुझ पर कितना विश्वास रहा। किन्तु उस विश्वास को गुरुदेव ने समूचे संघ के समक्ष जिस प्रकार दोहराया और मुझे उस विश्वास से जितना भारी बनाया, उस विश्वास की पुनरावृत्ति के साथ-साथ मैं अपनी श्रद्धा की पुनरावृत्ति करना चाहता हूँ। मेरे लिए सबसे बड़ा संबल पूज्य गुरुदेव का इंगित, निर्देश और आदेश ही होगा। उसी के अनुसार मेरे जीवन का समूचा क्रम चलेगा।

गुरुदेव का कर्तृत्व

मैं नन्हा-सा बालक था, छोटे-से गांव में जन्म हुआ था। भोला-भाला था। कुछ पढ़ना-लिखना नहीं जानता था। किसने कल्पना की थी कि उसके प्रति हमारा समाज, भारतीय समाज, प्रबुद्ध समाज किन-किन संज्ञाओं से अपनी भावना प्रकट करेगा। कोई कल्पना नहीं कर सकता था। मैं सारी बातें दोहराऊँ तो लग सकता है कि गर्वोक्ति कर रहा हूँ। मैं नहीं चाहता कि गर्वोक्ति करूँ। किन्तु एक-दो बातें इसलिए कहना चाहता हूँ, मेरी गर्वोक्ति नहीं, मैं उस कलाकार की कुशल साधना, कार्य-पद्धति का एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि यदि एक कुशल भाग्य-निर्माता मिलता है तो वह किस प्रकार के व्यक्ति को भी कैसे बना सकता है। लोगों ने कहा—गुरुदेव! आपने और भी बहुत कुछ दिया, किन्तु हमें एक विवेकानन्द दिया। पता नहीं, कौन विवेकानन्द है? किन्तु यह गुरुदेव की कर्तृत्वशक्ति का ही एक प्रयोग है। मेरा अपना कुछ भी नहीं है। और भी न जाने कितनी बातें लोगों द्वारा भी कही गईं, जो हमारे संघ से सर्वथा प्रतिकूल चलने वाले और विरोध रखने वाले थे। मैं चाहता हूँ कि सारा जो कुछ हो रहा है, उसमें गुरुदेव का कर्तृत्व एवं सृजनशीलता ही बोल रही है। मेरा अपना कुछ भी नहीं है।

जिस महान् निर्माता ने मेरे जीवन का निर्माण किया, जिस कुशल शिल्पी ने मेरे भाग्य की प्रतिमा को गढ़ा, उसके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करूँ, बहुत छोटा शब्द है। उस भार को यह कृतज्ञता शब्द उठा नहीं सकता है। और कोई दूसरा शब्द खोजूँ तो शायद शब्दकोश में मिलता नहीं है। सबसे अच्छा कोई शब्द हो सकता है तो यह हो सकता

है कि गुरुदेव! मैं सदा अभिन्न रहा हूँ और इस अर्थ में ही सौभाग्यशाली होऊँगा कि यह अभिन्नता सदैव बनी रहे, शाश्वत बनी रहे। कहीं भी भेद की रेखा सामने न आए।

मानसिक अभेद

एक बार भिवानी में गुरुदेव ने कहा था—इतने लम्बे जीवन में एक साथ रहना और कभी मानसिक भेद न होना, इसे मैं बहुत बड़ी बात मानता हूँ। गुरुदेव की सेवा में रहते हुए चार दशकों से भी अधिक समय बीत गया। मेरा सौभाग्य है कि मुझे ऐसा कभी नहीं लगा कि कहीं, कोई मन में भेदेखा आयी हो। मैं कुछ बातें सुनता रहा हूँ, जिन्हें आज दोहराना जरूरी समझता हूँ। बहुत लोग कहते हैं मुनि नथमल को कहने का कोई अर्थ ही नहीं है। वे तो केवल गुरुदेव की हां में हां मिला देंगे। उनको कहने या न कहने का कोई अर्थ नहीं है। इससे भी कुछ कटु बातें मैं सुनता रहा हूँ—कुछ लोग कहते, इनको कहने का अर्थ क्या है? गुरुदेव कहेंगे कि शिला दो हाथ बढ़ गई तो यह कहेंगे कि हां। गुरुदेव कहेंगे कि शिला दो हाथ घट गई तो कहेंगे, हां। मैं वैसे ही नहीं कह रहा हूँ। मैं बराबर ऐसी बातें सुनता रहा हूँ। पर मैंने कभी इन बातों की सफाई देने का प्रयत्न नहीं किया। मन में भी नहीं आया कि क्या कहा जा रहा है? क्योंकि मैं अपने आप में स्पष्ट था। मैं मानता था कि मेरा गुरु कितना यथार्थवादी है कि कभी ऐसी बात मुझसे कहलाता ही नहीं। कल्पना करने वाले कल्पना करते रहे। यथार्थ कुछ और रहे, कल्पना कुछ और चलती रहे तो उस कल्पना के लिए सफाई या साक्ष्य की कोई जरूरत नहीं होती। हां, मैं एक बात निश्चित कहता रहा कि कोई मेरा चाहे कितना ही निकट का क्यों न हो, मैं सबसे पहले पूज्य गुरुदेव को प्रसन्न रखना चाहता हूँ, फिर कोई बाद में दूसरा हो सकता है। मुझसे कोई यह आशा न करे कि मैं दूसरों की प्रसन्नता के लिए इस प्रसन्नता को तराजू पर रख दूँ। यह अगर आशा है तो सर्वथा निराशा होगी। यह एक सचाई है और सभी लोग इसे जानते हैं। जो व्यक्ति एक सिद्धान्त को लेकर चलता है, उसके सामने ऐसी कठिनाइयां आती हैं। किन्तु कभी मेरी धृति ने मुझे धोखा नहीं दिया। मैं जिस संकल्प को लेकर

४८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

चला था, चल रहा हूँ और पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में इसी प्रकार चलता रहेगा।

विश्वास की भूमिका

जिस महान् गुरु ने मेरे जीवन का निर्माण किया, मुझे अपना विश्वास दिया और विश्वास तथा श्रद्धा ली, उस विश्वास को अब चरम बिन्दु पर सब लोगों के सामने प्रस्तुत कर दिया, उसके प्रति कुछ भी समर्पित करूँ, बहुत तुच्छ बात होगी। उदयपुर चातुर्मास के बाद एक दिन आत्मा (मेवाड़ का एक छोटा-सा गांव) में पूज्य गुरुदेव ने मुझे अपना कुछ अंतरंग काम सौंपा। आपने कहा—२७ वर्षों के बाद आज मैं अपना कुछ अंतरंग काम पहली बार तुम्हें सौंप रहा हूँ। इस बार गुरुदेव ने मुझे वह सब कुछ सौंप दिया, जो कुछ सौंपा जा सकता है।

मैं सोचता हूँ कि मैंने कभी कुछ नहीं मांगा। अपने लिए मैंने कभी कोई मांग नहीं रखी। इस बात की सचाई स्वयं गुरुदेव जानते हैं, और भी जानने वाले जानते हैं कि कभी मेरी कोई मांग नहीं थी। आप ज्ञान, दर्शन, चरित्र की बात छोड़ दीजिए। मैं उसकी बात नहीं कर रहा हूँ। वह तो जीवन की शाश्वत मांग है, किन्तु किसी वस्तु की कभी कोई मांग नहीं की। केवल एक ही मांग की थी कि मुझे आचार्य तुलसी का विश्वास मिलता रहे, उपलब्ध रहे। बस इतनी मांग थी। वह मेरी मांग पूरी हुई। आचार्य तुलसी मुझे उपलब्ध थे, उपलब्ध और हो गए। जब आचार्य तुलसी मुझे स्वयं उपलब्ध हो गए तो उनका जो कुछ था, वह मुझे स्वयं उपलब्ध हो गया। यह मेरी कोई मांग नहीं थी।

इस अवसर पर मैं क्या कहूँ? तीन-चार दिनों से पता नहीं मेरी स्थिति क्या बन गई है? शायद कुछ बोल नहीं पाता। बोलता हूँ तो भाव-विभोर हो उठता हूँ। गुरुदेव के चरणों में व्यवहारतः, वास्तव में तो उनकी आत्मा में, किन्तु व्यवहार की भाषा में कहूँ तो उनके चरणों में फिर अपने सर्वस्व को समर्पित करता हूँ और यह आशीर्वाद मांगता हूँ कि गुरुदेव! आपका आशीर्वाद मुझे निरन्तर उपलब्ध होता रहे। आपने जिस प्रकार मेरे भाग्य का निर्माण किया, उसकी पूरी सफलता, सार-संभाल सब कुछ आपके कर-कमलों द्वारा निरंतर होती रहे।

गुरु का गौरव

पूज्य गुरुदेव ने मुझे पर असीम विश्वास किया है। एक छोटे-से बालक को, जिसे एक दिन अपने हाथों में लिया था, आज उसी को अपने बराबर बिठा दिया। मेरे जैसा छोटा-सा बच्चा और इतने महान् आचार्य! मैं तो इनके सदा चरणों में रहने वाला था और इन्होंने हाथ पकड़कर अपने बराबर बैठा दिया। मैंने प्रार्थना की—आप और कुछ कहें, किन्तु बराबर बैठने के लिए न कहें, पर आखिर निर्देश निर्देश होता है, आदेश आदेश होता है। न चाहते हुए भी मुझे वैसा करना पड़ा। यह गुरुदेव का गौरव, उनकी गुरुता, महानता और विशालता है कि जिस अबोध बालक को उन्होंने अपने हाथों में लिया और एक दिन उसी बच्चे को अपने बराबर बना दिया और बिठा दिया। इस महानता के प्रति मैं कोई भावना व्यक्त करूं, मेरे पास कोई शब्द नहीं है। गुरुदेव ने जो विश्वास किया, जो अनुग्रह किया, जो आशीर्वाद दिया, उसे समूचे श्रमण-श्रमणी संघ ने जिस प्रकार झेला और मुझे आदर दिया, मेरे प्रति श्रद्धा, निष्ठा और भावना व्यक्त की, उसके लिए मैं बहुत कृतज्ञ हूं और सबके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूं। प्रथम क्षण में ही आप लोगों ने मेरे प्रति जो सद्भावना प्रकट की है, वह भाग्य से ही मिल सकती है या गुरु के आशीर्वाद से ही मिल सकती है। मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूं कि मेरे गुरु का आशीर्वाद और आप सब लोगों की सद्भावना, दोनों मुझे एक साथ उपलब्ध हैं। मैं सचमुच गौरवशाली हूं, भाग्यशाली हूं।

नामातीत

मैं अपने भाग्य की क्या प्रशंसा करूं और आप सबके प्रति गौरव की क्या बात कहूं? मैं केवल अपने कर्तव्य को प्रकट कर देना चाहता हूं कि गुरुदेव ने जो सेवा का कार्य मुझे सौंपा है, संघ के प्रति मुझे जो सेवा का उत्तरदायित्व सौंपा है, उस कार्य के निर्वाह के लिए मैं अपने आपको समर्पित करता हूं। गुरुदेव के निर्देशों के अनुसार संघ की प्रगति के लिए, संघ के विकास के लिए मैं अपनी सारी प्रज्ञा को समर्पित करता हूं।

अब पूज्य गुरुदेव ने मुझे नामातीत बना दिया है। मेरा नाम भी समाप्त कर दिया। महाप्रज्ञ कोई नाम नहीं होता, यह तो स्वयं में एक पद है या कुछ है। कोई नाम तो नहीं होता। विशेषण है। गुरुदेव ने मुझे बिल्कुल अकिंचन बना दिया है। कम-से-कम व्यक्ति का नाम तो अपना होता है। उस पर अपना अधिकार तो होता है और किसी पर हो या न हो। वह भी मेरा छीन लिया। जिस नाम को बीस-तीस वर्षों के कर्तृत्व से अर्जित किया, लोग जानने-पहचानने लगे, वह भी समाप्त हो गया। जब नामातीत हो गया हूं तो संबंधातीत भी हो गया हूं। कोई संबंध नहीं रहा। किसी के साथ संबंध नहीं रहा और जब किसी के साथ संबंध नहीं होता है तो सहज ही सबके साथ हो जाता है। क्योंकि जब मुनि अवस्था में था, तब संबंध रखना भी जरूरी होता है और अपेक्षा भी होती है। किन्तु जब गुरुदेव ने मुझे यह कार्य सौंप दिया, तो किसी के साथ कोई संबंध नहीं रहा। अतीत की कोई रेखा भी मेरे मन में नहीं हो सकती कि किस व्यक्ति ने मेरे साथ कैसा व्यवहार किया। कितना अच्छा किया था। कितना अप्रिय भी किसी ने किया होगा। किसी ने मेरे साथ अप्रिय व्यवहार नहीं किया, यह मैं जानता हूं कि मैं इस अर्थ में भाग्यशाली रहा हूं, फिर भी कुछ हो सकता है। किन्तु अब सारे संबंध समाप्त हैं और यह कांच वैसा ही निर्मल हो गया, जिसमें कोई भी रेखा नहीं रही।

मुख्य है संघ का हित

संबंध कार्यों का भी होता है, पारिवारिक भी होता है और जन्मजात भी होता है। मेरी स्वर्गीया संसारपक्षीया माताजी साध्वी बालूजी आज नहीं हैं; वे भी दीक्षा में थीं। बहिन (साध्वी मालूजी) भी दीक्षा में हैं। कई बहिन हैं। भानजियां भी हैं। कम-से-कम एक परिवार के हम सात लोग दीक्षित हुए। मेरे संसारपक्षीय पिताजी चार भाई थे और चारों के परिजन दीक्षित हैं। संबंध का अपना व्यावहारिक पक्ष होता है। किन्तु जहां संघ है, वहां और सारे संबंध गौण हो जाते हैं। वहां संबंध कभी मुख्य नहीं होता। वहां संघ मुख्य होता है, और सब बातें गौण हो जाती हैं। संघ के कार्य में किसी भी संबंध को या किसी भी निजी या निकट के

व्यक्ति को कभी मुख्यता नहीं दी जा सकती। जहां गौण बातें मुख्य बन जाती हैं तथा मुख्य बातें गौण बन जाती हैं वहां बड़ी कठिनाइयां और समस्याएं पैदा हो जाती हैं। मैं अपनी ओर से स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि कोई भी यह अनुभव न करे कि हम तो संबंधी हैं और हम संबंधी नहीं हैं। मेरे लिए संबंध की कोई भेदरेखा नहीं है। मेरे लिए सब उतने ही निजी और मेरे अपने हैं, जो गुरुदेव की, संघ की मर्यादा एवं अनुशासन में दक्ष हैं।

कृतज्ञता

अब मैं उन लोगों की स्मृति कर लेना चाहता हूं जिनका मेरे जीवन में योगदान रहा है। सर्वप्रथम पूज्य कालूगणी के चरणों में अपनी संपूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति समर्पित करता हूं, जिनका वरदहस्त मेरे सिर पर टिका और भाग्य का सूर्योदय हुआ। उनके प्रति कृतज्ञ होना यह कोई मेरा ही व्रत नहीं है, मेरे गुरु का भी यही व्रत है। गुरुदेव के सामने जब भी कोई स्थिति होती है, तब यही व्रत होता है।

महामुनि मंत्री मुनि की स्मृति भी करना चाहता हूं। उनके शिक्षापदों ने मुझे बहुत अवकाश दिया संभलने का।

स्वर्गीय भाईजी महाराज चम्पालालजी स्वामी को नहीं भूल सकता। उन्होंने बचपन से ही हमारे साथ सारणा-वारणा का प्रयोग किया और इन वर्षों में तो उनका इतना अटूट स्नेह मुझे मिला कि जिसकी शायद पहले कल्पना भी नहीं थी। वे बहुत बार कहते—‘यह पांचवां आरा है। अगर चौथा होता तो केवली हो जाते। न जाने कितनी बार इसको दोहराते।’

स्वर्गीया माताजी बालूजी ने गुरुदेव के प्रति समर्पित रहने में पूरा योग दिया। वे हमेशा यही कहतीं कि गुरुदेव की दृष्टि को हमेशा ध्यान में रखना। गुरुदेव की दृष्टि के प्रतिकूल कभी कोई कार्य मत करना। यह उनका एक सूत्र था।

प्रगति और विकास के लिए

अब मैं अपनी अंतिम बात करना चाहता हूं। संघ की प्रगति और विकास के लिए हमें क्या करना है? हमारे संघ की प्रगति और विकास

५२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

का सबसे बड़ा सूत्र है अनुशासन। गुरुदेव अनुशासन के प्रति जागरूक हैं। इसलिए हम संभावना करते हैं कि गुरुदेव के द्वारा संघ का बहुत बड़ा विकास हो सकेगा, भारतीय चिन्तन का विकास हो सकेगा, जैनधर्म का विकास हो सकेगा। सबसे पहली हमारी शक्ति है अनुशासन। इसे हम कभी गौण नहीं करें। तेरापंथ की आज जो कर्मजा शक्ति सारे विश्व के सामने प्रस्तुत हो रही है और आज बड़े-बड़े समाज आचार्य तुलसी का लोहा मान रहे हैं, उसका आधार क्या है? यही अनुशासन है। एक अनुशासन में इतने योग्य और क्षमताशील साधु-साध्वियों का होना, मैं बड़े सौभाग्य की बात मानता हूँ। डेढ़ हजार वर्ष के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि एक आचार्य के नेतृत्व में ऐसे सशक्त साधु-साध्वियां हों। किसी आचार्य के पास पांच-दस हो सकते हैं। किन्तु जहां पचासों-पचासों साधु-साध्वियां सक्षम हों, यह किसी विरले, भाग्यशाली आचार्य को ही उपलब्ध हो सकता है। यह हमारा गौरव है। इसका मूल आधार है अनुशासन। गुरुदेव ने समय-समय पर जो निर्देश दिए और साधु-साध्वियों ने तत्परता से उनका पालन किया, परिणामतः आज हमारा धर्म-संघ बहुत शक्तिशाली बन गया।

शिक्षा

दूसरी बात, विकास के लिए बहुत जरूरी है शिक्षा। अनुशासन हो और बौद्धिक विकास न हो, शिक्षा न हो, तो काम बहुत आगे नहीं बढ़ सकता। हम एक साथ रह सकते हैं, अच्छे ढंग से रह सकते हैं, पर दूसरों को जो देना चाहते हैं, वह नहीं दे सकते। समाज के प्रति और एक विशाल समाज के प्रति हमारा कोई अनुदान नहीं हो सकता। वह तब हो सकता है, जब हमारा बौद्धिक विकास हो। हमारे संघ ने गुरुदेव के नेतृत्व में शिक्षा के क्षेत्र में बहुत प्रगति की है, पर एक बात साथ-साथ यह भी कहना चाहता हूँ कि जो प्रगति हो रही थी, उसमें थोड़ा-थोड़ा अवरोध भी आया है। प्रगति का युग वह था, जब मुनि तुलसी हमें पढ़ाते थे और हम पढ़ते थे। वह क्रम बराबर चलता तो आज संघ का रूप ही कुछ दूसरा होता। किन्तु क्या कहूं, वैसा नहीं हो सका। मुनि तुलसी मुनि नहीं रह सके और मुनि नथमल, मुनि बुद्धमल्ल विद्यार्थी नहीं रह सके। सब कुछ बदल गया। हम लोग शिक्षा के क्षेत्र

में एक कार्यक्रम बनाएं और जो कीर्तिमान हमारे धर्मसंघ ने स्थापित किया है, उस कीर्तिमान को स्थायी रखें और उसे आगे बढ़ाने का प्रयास करें।

अध्यात्म की साधना

अनुशासन भी हो, शिक्षा भी हो और बौद्धिकता भी हो, किन्तु अध्यात्म की साधना न हो तो बौद्धिकता लड़ाने वाली हो सकती है। आप इस बात को कभी न भूलें। तर्क आदमी को लड़ाता भी है, यह हमें ध्यान में रखना चाहिए। अध्यात्म की साधना हमारे लिए बहुत जरूरी है। शिक्षा, अनुशासन और अध्यात्म, इन तीनों दिशाओं में हमें प्रगति करनी है।

हम कठिनाइयों की ओर भी थोड़ा ध्यान दें। सबसे बड़ी कठिनाई है स्वास्थ्य की। यह बहुत चिन्तन का प्रश्न आज हमारे सामने है। साधुओं में और विशेषकर साध्वियों में यह स्वास्थ्य का प्रश्न कुछ जटिल बनता जा रहा है। इससे बड़ी बाधाएं आती हैं। पहली बाधा तो स्वयं के जीवन में आती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की जो आराधना होनी चाहिए, वह स्वास्थ्य के अभाव में नहीं हो पाती। दूसरी बाधा होती है संघीय प्रगति में। गुरुदेव जहां भेजना चाहते हैं, वहां नहीं पहुंच पाते। जो कार्य करवाना चाहते हैं, वह नहीं हो पाता। यह बहुत बड़ा प्रश्न है। इस पर सबको विचार करना है। मैं प्रार्थना करता हूं गुरुदेव से कि इस पर भी ध्यान दें और कुछ ऐसे रास्ते खोजें, जिससे साधु-साध्वी समुदाय का स्वास्थ्य ठीक हो सके। मानसिक स्वास्थ्य काफी अच्छा है। गुरुदेव ने प्रायः सभी साधुओं को अपने पास बुलाया और उनके स्वास्थ्य आदि के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त की। मैंने देखा कि साधु बहुत उल्लसित थे। इस बार मानसिक स्वास्थ्य का गुरुदेव ने बहुत सुन्दर प्रयोग किया।

मैं एक बार पुनः गुरुदेव के चरणों में एक प्रार्थना प्रस्तुत करता हूं—पूज्य गुरुदेव! यह आत्मा का अद्वैत सदा बना रहे और आपका मार्ग-दर्शन मुझे मिलता रहे। मैं अपने जीवन के इस दृढ़ संकल्प को फिर दोहराता हूं कि आपका जो भी इंगित होगा, वह मेरे लिए बड़े-से-बड़ा व्रत होगा और उस व्रत में सदा मैं अपने जीवन को खपाता रहूंगा।*

* युवाचार्य पद पर नियुक्त होने के बाद साधु-साध्वियों की परिषद् में प्रदत्त वक्तव्य

११. समाज अध्यात्म से अनुप्राणित हो

- पूज्य गुरुदेव ने आपको तेरापंथ धर्म संघ के सर्वोच्च पद पर अप्रत्याशित रूप से प्रतिष्ठित कर दिया। संभव है, उस समय आप स्तब्ध रह गए हों। किन्तु जब आपको इस संबंध में एकान्त क्षणों में कुछ सोचने का अवकाश मिला, इस घटना की आपके मन पर पहली प्रतिक्रिया क्या हुई?
- इस नियुक्ति के बाद मेरे मन में यह आया कि गुरुदेव ने मुझे समाज के उस स्थान पर प्रतिष्ठित किया है, जहां व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहकर स्वयं समाज बन जाता है। उसे पूरे समाज को आत्मसात् करना होता है। उसके लिए न केवल समाज को साथ लेकर ही चलने की अपेक्षा है, अपितु उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर चलना जरूरी है। मैं अकेलेपन की स्थिति में अधिक रस लेता था, पर यह न नियति को इष्ट था और न स्वयं गुरुदेव को ही। इसलिए मैं एक व्यक्ति से समाज में रूपान्तरित हो गया। इस भूमिका पर आरूढ़ होने के कारण गुरुदेव ने जो गुरुतर दायित्व मुझे सौंपा है, उसके निर्वाह हेतु मैं अधिक शक्ति-स्रोतों की आवश्यकता अनुभव करता हूं। गुरुदेव के आशीर्वाद, अपनी अध्यात्म-साधना और समस्त समाज की सद्भावना, इसी त्रयी के योग से मैं उन शक्ति-स्रोतों को उद्घाटित करूं, यह मेरी पहली प्रतिक्रिया है।
- यह दस-बारह दिनों का समय आपको कैसा लगा? क्या आप अपने भीतर कोई परिवर्तन अनुभव कर रहे हैं?
- जहां तक मेरे अन्तःकरण या भीतरी व्यक्तित्व का प्रश्न है, वहां तक मुझे अस्वाभाविक जैसा कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि मेरा मन साधना से इतना भावित है कि उस पर किसी प्रकार के भार का

अनुभव होता ही नहीं। दूसरी बात—मुझे गुरुदेव का साक्षात् सान्निध्य उपलब्ध है, इसलिए भी मैं अपने आप में बहुत हल्का हूँ।

बाह्य व्यक्तित्व के संदर्भ में मैं अपने आप में और वातावरण में भी एक परिवर्तन देख रहा हूँ। इन दिनों मुझे एक चिंतन बार-बार आन्दोलित कर रहा है कि गुरुदेव ने मुझे बड़ा दायित्व सौंपा और समूचे संघ ने उसके प्रति इतना उल्लास व आनंद प्रदर्शित किया। केवल तेरापंथ समाज में ही नहीं, व्यापक रूप से मेरे प्रति जो आकांक्षाएं संजोई जा रही हैं, उससे मेरा दायित्व और व्यापक हो जाता है। उन सब आकांक्षाओं की पूर्ति मैं करूँ, यही विचार मुझे बार-बार उत्प्रेरित करता रहता है।

- क्या आपकी साधना और साहित्य-लेखन में अवरोध नहीं आएगा?
- यह निर्णय यदि पांच-दस साल पहले होता तो मेरी साधना और लेखन—दोनों में अन्तर आता। किन्तु यह काम एक अवधि के बाद हुआ, इसलिए मेरे सामने कठिनाई या अवरोध जैसी कोई स्थिति नहीं है। क्योंकि साधना की एक सीमा मैं अतिक्रान्त कर चुका हूँ और लेखन को भी अब वक्तृत्व में बदल चुका हूँ।
- आपकी रुचि प्रशासन है या ध्यान?
- मेरी काम करने की पद्धति यह रही है कि या तो मैं कोई काम करूँ नहीं, करूँ तो पूरी रुचि के साथ करूँ। अस्वीकार या पूरी तन्यमता इन दोनों मार्गों में से एक मार्ग का निर्धारण कर मैं चला हूँ। अतः प्रशासन को भी अपनी रुचि का अंग बनाकर ही चलूंगा। रुचि-निर्माण के स्थान पर रुचि के अनुरूप काम हाथ में लेने का प्रश्न आता तो मैं इस संबंध में कुछ निवेदन भी करता, पर ऐसा अवकाश ही मुझे नहीं मिला। दूसरी बात यह है कि दूसरों के सामने किसी भी काम के स्वीकार या अस्वीकार में मैं पूरी स्वतंत्रता का उपयोग करता हूँ किन्तु गुरुदेव का जो आदेश मिल जाता है, उसके लिए सर्वथा अस्वीकार की बात मेरे लिए बहुत कठिन हो जाती है। जिस समय गुरुदेव ने मुझे अपने सामने खड़ा होने का निर्देश दिया, मैं एकवारगी स्तब्ध रह गया। मुझे लगा—मैं कोई स्वप्न देख रहा हूँ या यथार्थ के धरातल पर खड़ा हूँ।

- आपने अपने बारे में कभी ऐसी कल्पना की थी क्या? अपने भविष्य के संबंध में आपका क्या चिंतन था?
- मैं तेरापंथ संघ की सेवा का कुछ विनम्र प्रयत्न कर चुका हूँ। अब मेरी इच्छा थी अध्यात्म के व्यापक क्षेत्र में समग्र मानव जाति की सेवा। इस चाह ने मुझे चिंतन का नया परिवेश दिया। उस परिवेश में मेरी कल्पना थी, मैं अपने धर्मसंघ में साधना की विशिष्ट भूमिका में रहूँ और उसी माध्यम से मानव जाति की सेवा करता हुआ अपने लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ूँ। संघ का दायित्व गुरुदेव किसी को भी सौंपें, उसमें न मेरा कोई हस्तक्षेप होगा और न मैं किसी व्यवस्था में भाग ही लूँगा। मैं केवल अध्यात्म की दिशा में, अध्यात्म चेतना का जागरण करने के लिए चलता रहूँगा, चलता रहूँगा। इस संबंध में मैंने कई बार गुरुदेव से प्रार्थनाएं भी कीं। एक बार लिखित निवेदन भी किया ध्यान की विशेष भूमिका पर आरूढ़ होने के लिए, किन्तु वैसा नहीं हो सका। अब मैं सोचता हूँ कि मेरी नियति यही थी या गुरुदेव ने मेरी नियति का निर्माण इसी क्रम से गुजरने के लिए किया है, इसलिए मैं कल्पना, संभावना आदि सब स्थितियों में न उलझ अपने दायित्व का निर्वहन करने की दिशा में आगे बढ़ूँ।
- आप अपने नेतृत्व में धर्मसंघ को कौन-सा नया मोड़ देना चाहेंगे?
- हमारे सामने दो बातें हैं—अध्यात्म और समाज। समाज शक्तिशाली तब बनता है, जब वह अध्यात्म से अनुप्राणित हो, जब उसमें सांस लेने वाला हर व्यक्ति सशक्त हो। गुरुदेव ने जब मुझे समाज में काम करने का अवसर दिया है तो मैं चाहूँगा कि मेरा दर्शन समाज में क्रियान्वित हो। सुकरात का नाम सुना होगा तुमने। उसका यह सिद्धान्त था कि शास्ता किसी दार्शनिक को होना चाहिए। दार्शनिक शास्ता अपनी जनता को जीवन-दर्शन की गहराई से परिचित करा सकता है और उसे तदनुरूप व्यवहार भी दे सकता है। मेरी आकांक्षा यह है कि सबसे पहले व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण करे। वह व्यक्तित्व निर्माण की बात को प्राथमिकता दे और संघ सेवा का काम उसके अनन्तर क्रियान्वित करे। जीवन-निर्माण का दर्शन मुझे

आचारांग से उपलब्ध हुआ है। वहां एक सूक्त है—‘आवीलए, पवीलए निवीलए’—इस एक संदर्भ में मुनि के समग्र जीवन का स्पष्ट निदर्शन है। दीक्षित होने के बाद मुनि सबसे पहले अध्ययन और साधना में अपना जीवन लगाए, यह आपीडन है। उसके बाद वह संघ से जो सेवा ली है, उसका ऋण चुकाए, यह प्रपीडन है और ऋण-मुक्त होने के बाद समाधिमरण की तैयारी करे, यह निष्पीडन है। मैं चाहता हूं मेरा यह दर्शन हमारे धर्म-संघ में क्रियान्वित हो।

- आपका यह दर्शन और क्रियान्विति बहुत अच्छी बात है, किन्तु इसका तरीका क्या होगा?
- तरीका तो कुछ निर्धारित करना ही होगा। वैसे हर कार्य की निष्पत्ति के लिए कुछ विशिष्ट परिस्थितियों का निर्माण जरूरी होता है। जीवन-निर्माण के दर्शन की क्रियान्विति का श्रीगणेश व्यक्तिगत साधना के लिए कम-से-कम एक घंटा समय लगाने के संकल्प से शुरू हो ही गया है। इसकी निष्पन्नता के आसार में आगामी दशक में देख रहा हूं। इतनी बड़ी योजना के क्रियान्वयन में दस वर्ष का समय कोई अधिक नहीं है। मुझे विश्वास है कि गुरुदेव का सफल मार्ग-दर्शन उपलब्ध होने पर यह काम और अधिक सरल हो जाएगा।
- साधना में एक घंटा समय लगाने का संकल्प कई साधु-साध्वियों ने लिया है, पर क्या समय लगाने मात्र से हमारा लक्ष्य पूरा हो जाएगा? मुझे तो ऐसा लगता है कि जब तक वृत्तियों का रूपान्तरण नहीं होगा, व्यक्ति-निर्माण का स्वप्न भी मात्र स्वप्न बनकर रह जाएगा। इस संबंध में आपकी क्या राय है?
- केवल समय लगाने मात्र से वृत्ति-परिवर्तन की बात से मैं भी सहमत नहीं हूं। एक-दो घंटे के समय में स्वयं को प्रशिक्षित करने की विधि हस्तगत हो जाए, यह जरूरी है। इसके लिए मैं सोचता हूं कि साधु-साध्वियों को प्रशिक्षण के लिए व्यवस्था और अवकाश दिया जाए, तो हमारा स्वप्न स्वप्न न रहकर यथार्थ बन जाएगा। इस स्वप्न को फलीभूत देख मुझे जो प्रसन्नता होगी, वह भी अनिर्वचनीय ही होगी।

५८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

- आपका साध्वी-समाज संख्या की दृष्टि से बहुत बड़ा है। संख्या के अनुपात से गुणात्मकता भी बढ़े, इस दृष्टि से आप साध्वी-समाज से क्या अपेक्षाएं रखते हैं तथा क्या विशेष निर्देश देना चाहते हैं?
- हमारा साध्वी-समाज निश्चित ही एक समाज है। उसमें नयी जिज्ञासाओं की स्फुरणा है। वह कुछ होने या बनने की चाह भी रखता है, पर इसके लिए उसे विशिष्ट संकल्प-शक्ति का संचय करना होगा तथा तदनुरूप अपने आपको ढालना होगा। इस दृष्टि से सबसे पहली बात है स्वार्थ का विर्सजन। कोई भी व्यक्ति या समाज तब तक विशिष्ट नहीं बन सकता, जब तक उसमें स्वार्थ-चेतना से मुक्त होने का संकल्प दृढ़ नहीं हो जाता। व्यक्ति की स्वार्थ-चेतना उसे खान-पान जैसी छोटी बातों में उलझा देती है तो कभी किसी बड़ी बात को लेकर उत्पात मच जाता है। साध्वियों से मेरी दूसरी अपेक्षा है—दीर्घकालीन चिंतन की क्षमता का विकास। तत्काल जो कुछ प्राप्त होता है उस पर तात्कालिक प्रतिक्रिया दीर्घकालीन हितों के पक्ष में नहीं होती इसलिए तत्कालीन प्रतिक्रिया को सुरक्षित रखते हुए समय पर ही उस संबंध में निर्णय लेना उचित है। तीसरी बात है—शिक्षा का गहरा अभ्यास। अध्ययन का धरातल ठोस न हो तो पल्लवग्राही विद्वत्ता से व्यक्ति न अपने आपको उपलब्ध कर सकता है और न ही शिक्षा के क्षेत्र में नये आयामों का उद्घाटन कर पाता है।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक बात है अनुप्रेक्षा और ध्यान का अभ्यास, वह भी वृत्तियों को रूपान्तरित करने के उद्देश्य से। इन सब बातों के प्रति साध्वी समाज जागरूक रहा तो वह वर्तमान की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध और गतिशील हो सकता है।*

* १५ फरवरी १९७६, महाप्रज्ञ से लिया गया एक साक्षात्कार।

१२. धर्म संघ शक्तिशाली बने

- युवाचार्य पद के लिए आपको शतशः बधाई। हम सब सौभाग्यशाली हैं कि आप जैसे युवाचार्य हमें गुरुदेव द्वारा उपलब्ध हुए हैं। मर्यादा महोत्सव के दिन प्रवचन पण्डाल में गुरुदेव द्वारा प्रवचन में यह कहने पर कि 'मैं अपने उत्तराधिकारी की घोषणा करूंगा' आपके मन में उस क्षण क्या प्रतिक्रिया हुई? घोषणा के पूर्व क्षण तक क्या आपको अहसास था कि मेरे नाम की घोषणा होगी?
- गुरुदेव ने जब यह घोषणा की, उस समय सब सुन रहे थे, मैं भी उनकी पंक्ति में शामिल था। मैं भी सुन रहा था और बड़े कुतूहल के साथ सुन रहा था। मुझे पता कैसे चले? गुरुदेव ने कभी मुझसे पूछा नहीं और न कभी मुझे बताया। कोई भी संकेत नहीं दिया, इंगित भी नहीं किया। अगर मुझसे बात करते, कोई परामर्श करते, मुझे थोड़ा-सा संकेत देते तो मैं भी अपनी समस्याएं सामने प्रस्तुत करता, किन्तु मेरे सामने कोई प्रश्न ही नहीं आया, जिस प्रकार आप सब लोग सुनने वाले थे उसी पंक्ति में मैं था, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं।
- आप जैसे चिंतनशील व्यक्ति के मन में बहुत से प्रश्न हो सकते हैं। उस समय क्या प्रतिक्रिया हुई? हम तो श्रोता हो सकते हैं, आप तो चिंतक और द्रष्टा हैं?
- चिंतनशील होना और द्रष्टा होना एक बात है और तात्कालिक बात पर एक प्रतिक्रिया करना दूसरी बात है। गुरुदेव ने इतना अवसर ही नहीं दिया कि मैं लंबे समय तक सोच सकूँ या प्रतिक्रिया कर सकूँ। घोषणा के कुछ क्षणों बाद मुझे उपस्थित ही कर दिया तो फिर सोचने का अवकाश ही कहाँ रहा? यह मैं मानता हूँ कि गुरुदेव

६० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

का कोई निर्णय होगा, वह सब दुष्टियों से संतुलित, उचित होगा। इसमें मुझे कभी संदेह नहीं था, किन्तु मैं अपने लिए सोचूं, इसके लिए मुझे कोई जरूरत भी नहीं थी। उस क्षण इतना भावनापूर्ण वातावरण था कि चिंतन भावना से दब गया। कोई भी व्यक्ति चिंतन की स्थिति में नहीं था। गुरुदेव ने इस प्रकार एक भावनात्मक ढंग से सारे वातावरण को भावना से प्रभावित कर दिया कि सब लोग भावित हो गए थे। जब भावित हो जाते हैं, तब वहां चिंतन के क्षण नहीं होते हैं। वहां प्रतिक्षण उत्सुकता होती है कि अगले क्षण क्या होता है।

- निर्वाचन की घोषणा के साथ ही आपके अंतर्मानस में क्या प्रतिक्रिया हुई?
- जब गुरुदेव ने मुझे इस पद के लिए उपस्थित किया, वह क्षण मेरे लिए बहुत विचित्र था और एक साथ इतनी बातें मस्तिष्क में घूम गईं कि उसका विश्लेषण करना भी मेरे लिए कठिन है। जिस दिन दीक्षित हुआ उस दिन से लेकर आज तक का समूचा जीवन-चित्र स्मृति-पटल पर दृश्य की तरह आ गया। हमारा संबंध तादात्म्य और गुरुदेव से मिली सारी प्रेरणाएं, उसके परिणाम और भविष्य की कल्पना वृत्त के रूप में एक साथ घूम गयीं। उस एक क्षण का विश्लेषण करूं तो उसके लिए हजारों क्षण मुझे चाहिए, किन्तु अज्ञात रूप में सारी बातें जैसे एक साथ चित्र-पटल पर उतर आयीं। मुझे यही लगा कि अगर पहले गुरुदेव मुझे अवकाश देते तो मैं अपने मन की बातें भी और कठिनाइयां भी श्लोमने प्रस्तुत करता। गुरुदेव ने बिना अवकाश दिए सीधा निर्देश और आदेश ही दे दिया। मेरे जीवन का व्रत है कि जो आदेश गुरुदेव से मिल जाए, उसे शिरोधार्य करना। उसे स्वीकृत करने के सिवाय मेरे सामने कोई उपाय भी नहीं था।
- विशाल संघ का महान् उत्तरदायित्व आपश्री द्वारा किये गये एकान्त साधना के संकल्प में बाधक नहीं बनेगा?
- हमारा धर्म-संघ स्वयं साधना का स्थल है। यह संघ किसी दूसरी प्रवृत्ति का होता, तो निश्चित ही यह बाधा मेरे सामने आती, किन्तु

मैं जो साधना कर रहा हूँ वह समूचे धर्मसंघ में प्रतिबिम्बित होने की बात है। तब मैं इसे बाधा कैसे मानूँ? यह साधना का और आराधना का धर्मसंघ है। जैन विश्व भारती, लाडनूँ में पिछले वर्ष मैंने प्रयोग शुरू किया, तो गुरुदेव ने अपना संदेश दिया। उसमें उन्होंने कहा कि यह तुम्हारा प्रयोग केवल तुम्हारा ही नहीं है, वह मेरा प्रयोग है, समूचे संघ का प्रयोग है। जब मेरे प्रयोग को गुरुदेव समूचे संघ का प्रयोग मानते हैं, उस स्थिति में समूचे संघ की साधना के निमित्त मैं सेवा करूँ, तो उसमें कोई बाधा नहीं मानता, किन्तु मानता हूँ कि जो मैं कर रहा हूँ, उसका व्यापक प्रतिबिम्ब होगा, साधना को अधिक बल मिलेगा। मैं स्वतंत्र चिंतन कर रहा हूँ, फिर भी यह मानता हूँ कि साधना का विकास होना चाहिए। इसकी परम्परा भी होनी चाहिए, अकेला व्यक्ति कुछ करे, वह अपने लिए तो बहुत मूल्यवान् है, किन्तु वह समाज-व्यापी बने, यह और अधिक मूल्यवान् है। मैंने कभी केवली बनने की बात नहीं सोची, तीर्थकर के चरणों का अनुसरण करने की बात सोची। केवली हर कोई व्यक्ति हो सकता है, तीर्थकर हर कोई नहीं हो सकता। केवली और तीर्थकर में यही अन्तर है कि केवली अपने लिए होता है और तीर्थकर वह होता है, जो दूसरों का भी भला कर सके, कल्याण कर सके। केवली के पदचिह्नों का अनुसरण मैंने कम किया। तीर्थकरों के पदचिह्नों पर चलने का जो मेरा प्रयोग था, अनुसरण की प्रवृत्ति थी, उसे देखते हुए मैं कह सकता हूँ कि इसमें मुझे कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

- आपके मानस में तेरापंथ धर्मसंघ के विकास के लिए क्या परिकल्पना है?
- बचपन से ही मेरा एक चिंतन रहा कि जिस धर्मसंघ में हम हैं, वह धर्मसंघ शक्तिशाली बने। दुर्बल धर्मसंघ में रहना हमें पसंद नहीं है, मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। जो व्यक्ति स्वयं शक्तिशाली होना चाहता है और संघ को शक्तिशाली देखना चाहता है, वह कभी दुर्बलता को पसंद नहीं करता। सबसे पहले मेरे मन में कल्पना थी कि हमारा धर्मसंघ शक्तिशाली बने और शक्ति के जितने स्रोत हैं,

६२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

वे सारे उद्घाटित हों। मैं मानता हूँ कि धर्मसंघ में शक्ति का सबसे बड़ा स्रोत है—अध्यात्म-चेतना का जागरण। अध्यात्म-चेतना जागृत होती है तो संघ बहुत शक्तिशाली बनता है। मैं कुण्ड को या खड्डे को पसंद नहीं करता, कुएं को पसंद करता हूँ। कुण्ड में पानी बाहर से डाला जाता है। बहुत सीमित बात होती है। कुएं में स्रोत फूटता है, जिससे कुएं का पानी असीम होता है। कुण्ड में पानी डाला हुआ ससीम होता है, इसलिए यह बात मुझे पसंद नहीं है। मुझे यह बात पसंद है कि ऐसा स्रोत फूटे, जिससे अनन्त जल निकलता ही चला जाए। मैं मानता हूँ कि अध्यात्म-चेतना का जागरण एक ऐसे कुएं को खोदना है, जिसमें शक्ति का स्रोत फूट जाए और शक्ति का अनंत प्रवाह उसमें से निकलता रहे। मैं अपने धर्मसंघ को उस शक्ति से संपन्न देखना चाहता हूँ, जिसमें शक्ति का स्रोत अनवरत प्रवहमान हो। मुझे विश्वास है कि गुरुदेव के नेतृत्व में ऐसा संभव हो सकेगा। मैं चाहता हूँ कि गुरुदेव हमें दीर्घकाल तक अपनी छत्रछाया दें और वे देखें कि उनका एक शिष्य अपने संघ को अतीन्द्रिय चेतना-जागरण के लक्ष्य तक पहुंचाने में निमित्त बना है।

- समाज, राष्ट्र और विश्व की समस्याओं के समाधान में आपका धर्मसंघ किस प्रकार उपयोगी बन सकता है?
- संसार की मूलभूत समस्या क्या है जो सारी समस्याओं को जन्म दे रही है? वह है—अपने आपकी विस्मृति। व्यक्ति अपने आपको भूल रहा है और दूसरों को सुधारना चाहता है। दूसरों का भला करने से पूर्व व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण करे। यदि व्यक्ति के जीवन का निर्माण होगा तो विश्व को सुधारने में कोई समय नहीं लगेगा। संसार में विचित्र-सा चल रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की चिंता से चिंतित है; किन्तु अपनी चिंता किसी को नहीं है। आध्यात्मिक चेतना के जागरण का सबसे पहला सूत्र होगा—व्यक्ति चौबीस घंटों में कम-से-कम एक घंटा अपने लिए निकाले, उसमें दूसरों की कोई चिंता न करे। वह अपने को देखे, संवारे, निर्मित करे। यदि ऐसा होता है तो हम विश्व की समस्या का समाधान देने वाली मूल बात को पकड़ पायेंगे, जिसको पकड़े बिना सुलझाई जाने वाली समस्याएं

उलझन बन जाती हैं।

- साम्यवादी देश का नागरिक पोप पाल के प्रतिष्ठित पद पर निर्वाचित हुए। उन्होंने जिन नीतियों की घोषणा की, उनका स्वागत हुआ। एक तंत्रीय संघ-प्रणाली से आप भी निर्वाचित हुए हैं। आप दोनों को अलग-अलग धर्म-परम्परा का नेतृत्व मिला। आपकी और उनकी किन-किन प्रणालियों में समानता की कल्पना की जा सकती है?
- ईसाई धर्म का क्षेत्र बहुत व्यापक है, बहुत बड़ा है और पोप पाल ने जो घोषणा की है वह वर्तमान युग के संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण है। कुछ परम्पराओं से हटकर और नयी चेतना, नये दृष्टिकोण को अपनाने की बात जो सामने आई है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। मैं मानता हूँ कि सौभाग्य से मुझे वह कार्य पहले से ही उपलब्ध हो गया। मेरे आचार्य ने पहले से ही कुछ ऐसे उदार, व्यापक और विशाल दृष्टिकोण अपनाये हैं, जिनसे मैं स्वयं बहुत लाभान्वित हुआ हूँ और हमारा संघ लाभान्वित हुआ है। आज ईसाई भी अध्यात्म-चेतना के प्रति आकृष्ट होते जो रहे हैं और उनके धर्म गुरु स्वयं पोप पाल ध्यान, साधना जैसे आध्यात्मिक प्रणालियों के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करते हैं। सौभाग्य से हमारे संघ में भी आज सबसे ज्यादा किसी बात को महत्त्व दिया जा रहा है, तो अध्यात्म-चेतना के जागरण को दिया जा रहा है। उसके बिना मानवीय चेतना, सामाजिक चेतना या नैतिक चेतना कभी विकसित नहीं हो सकती।

यह एक साम्य का बिन्दु है। हम इसको लेकर चल रहे हैं। ईसाई जगत् का मानस भी उस बिंदु की ओर आ रहा है। संभव हो सकता है कि कभी उस अध्यात्म-चेतना जागरण के बिन्दु पर हम दोनों एक हो जाएं। इसमें कोई कठिनाई नहीं है, बहुत बड़ी संभावनाएं हैं और इन संभावनाओं पर विचार होना भी जरूरी है। मैं सोचता हूँ गुरुदेव विचार करेंगे, मुझे भी कुछ मार्ग-दर्शन देंगे। मैं भी उस दिशा में कुछ प्रयत्न करूँ, आज सारे संसार को यदि किसी एक बिन्दु पर लाया जा सकता है तो वह धर्म का बिन्दु ही हो

3 अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

सकता है। इन भौतिकता के बिन्दुओं ने यह प्रमाणित कर दिया कि इन आधारों पर चलने से संसार में विघटन होता है; कभी एकता स्थापित नहीं होती। अगर एकता का कोई बिन्दु होगा तो अध्यात्म का बिन्दु ही होगा और आने वाला युग अध्यात्म का ही युग होगा। हमने जो मार्ग चुना है, जो नेतृत्व और मार्ग-दर्शन गुरुदेव का मिल रहा है, वह विश्व एवं समाज के लिए अत्यन्त कल्याणकारी और श्रेयस्कर है। उस बिन्दु को और विकसित करने में मैं कुछ योगभूत बनूं तो यह मेरे लिए बहुत शुभ होगा।*

१३ फरवरी १९७४ को प्रदत्त साक्षात्कार

१३. अतीत का अनावरण

योगी की भविष्यवाणी

कहानी बचपन से शुरू होती है। कोई बच्चा आगे क्या होगा, यह सब नियति के गर्भ में होता है। उसका स्पष्ट बोध स्वयं को भी नहीं होता और दूसरों को भी नहीं होता। उसका पूर्वाभास स्वयं को भी हो जाता है और दूसरों को भी हो जाता है। मैं लगभग आठ वर्ष का था। एक अज्ञात भिक्षु आया। वह घर-घर भिक्षा मांगता हुआ घूम रहा था। वह मेरे पड़ोसी के घर पहुंचा। मेरे एक साथी को देखकर वह बोला—‘यह बच्चा एक सप्ताह के बाद चल बसेगा।’ वह भिक्षु मेरे घर पहुंचा। उसने मुझे देखकर कहा—‘यह बालक योगी होगा, योगिराज होगा।’ मैं नहीं जानता था, योगी क्या होता है? इन दोनों घटनाओं का लोगों को पता चला। बात सारे गांव में फैल गई। पर एक अनजाने भिक्षु की बात थी, इसलिए किसी ने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। सप्ताह बीता और मेरा साथी अचानक इस संसार से चल बसा। तब लोगों का ध्यान उस भिक्षु की भविष्यवाणी की ओर गया। उसे खोजा, पर वह कहीं दूसरी जगह जा चुका था। उसका कोई पता नहीं चला।

चेतना का प्रस्फुटन

मेरी बहन का विवाह था। घर में काफी लोग आए हुए थे। मेरे मन में एक तरंग उठी और मैं आंखों पर रुमाल बांधकर चलने लगा। जब दरवाजे के पास पहुंचा तो सिर भीत से टकरा गया। ललाट के मध्य में चोट लगी, ठीक उसी स्थान पर, जो ज्योति-केन्द्र (पिनिथल ग्लैन्ड) का स्थान है। कभी-कभी बाहर का आघात भी भीतर की चेतना को जगाने का निमित्त बन जाता है। चेतना बाहर में नहीं जागी हो, पर भीतर में उसका प्रस्फुटन शुरू हो गया।

अनुत्तरित प्रश्न

नौ वर्ष पूरे हो गए। 'मेमनसिंह' (वर्तमान बंगला देश) में मेरी चचेरी बहन का विवाह था। उस उद्देश्य से मां और चाचा के साथ मैं वहां गया। बीच में हम कलकत्ता पहुंचे। वहां हम सभी बुआ के पास ठहरे। भोजन के पश्चात् मेरे चाचा और उनकी दुकान के कर्मचारी कलकत्ता के बाजार में सामान खरीदने गए। मैं भी उनके साथ चला गया। वे दुकानों में सामान खरीदते रहे और मैं इधर-उधर देखता रहा। रास्ते में चलते-चलते मैं कहीं रुक गया और वे आगे बढ़ गए। न उनको ध्यान रहा और न मुझे ध्यान रहा। मैं अकेला रह गया। मुझे नहीं पता कि मुझे कहां जाना है। न कोठी का पता और न उसके नंबर का पता। पर पता नहीं मेरी अन्तश्चेतना को इन सबका कैसे पता चला! मुझे जब यह लगा कि मैं अकेला रह गया हूं तब मैंने सबसे पहले एक काम किया—मैंने अपने हाथ की घड़ी खोली, गले में से स्वर्णसूत्र को निकाला और दोनों को जेब में रख लिया। मैं पीछे मुड़ा और अज्ञात की ओर चल पड़ा। मुझे नहीं पता, कहां जाना है, कहां जा रहा हूं। पर अन्तश्चेतना को कोई पता था, मैं ठीक स्थान पर पहुंच गया। कुछ समय बाद मेरे चाचा को पता चला कि मैं उनसे बिछुड़ गया हूं। तब उन्होंने मुझे खोजने के लिए दौड़-धूप की। पुलिस-स्टेशन पर गए। मेरे गुम होने की रिपोर्ट लिखाई और वे मुझे खोजते-खोजते घर आए। नीचे से ही उन्होंने चिल्लाना शुरू कर दिया—'नत्थू हमसे बिछुड़ गया। उसका कोई पता नहीं चला।' उनकी आंखें डबडबाई हुई थीं। वे बहुत परेशान दीख रहे थे। उनकी बहन ने कुछ क्षणों तक उन्हें कोई बात नहीं बताई। फिर अचानक मुझे भीतर से बाहर लाकर उनके सामने खड़ा कर दिया। उनकी सारी परेशानी दूर हो गई। उन्होंने पूछा—'तू यहां कैसे पहुंचा?' मेरे पास इसका कोई उत्तर नहीं था। जीवन में सब कुछ उत्तरित नहीं होता। कितना अच्छा होता कि मनुष्य अनुत्तरित का उत्तर दे पाता।

एक आघात

मेरे पिताजी चार भाई थे। बड़े भाई का नाम था गोपीचन्द्रजी। उनके एक पुत्र था। उनका नाम था म्हालचन्द्रजी। युवावस्था में अचानक

उनका देहावसान होगा गया। पिता दुःखी, माता दुःखी और पत्नी दुःखी। सारा परिवार दुःखी। मुझे वे बहुत स्नेह रखते थे। मुझे भी बड़ा दुःख हुआ। अन्तर्मन में एक चोट लगी। जीवन के प्रति किसी अज्ञात कोने में एक अनास्था का भाव पैदा हो गया।

मुनि छबीलजी का चातुर्मास हुआ। मैंने जीवन का एक दशक पूरा कर लिया। दूसरे दशक में प्रवेश हो चुका था। उनके सहवर्ती मुनि मूलचन्दजी ने मुझे प्रेरित किया—मैं तत्त्वज्ञान पढ़ूं। मैंने अध्ययन शुरू किया। एक दिन मुनिद्वय ने मुझे मुनि बनने की बहुत हल्की-सी प्रेरणा दी। मेरा अन्तःकरण झंकृत-सा हो गया, जैसे कोई बीज अंकुरित होना चाहता हो और उस पर पानी की फुहारें गिर जाएं। जैसे मेरा अन्तर्मन मुनि बनना चाहता हो और उनकी प्रेरणा की ही प्रतीक्षा हो। मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ। मैंने अपनी मां से कहा—‘मैं मुनि होना चाहता हूं।’ मां ने कहा—‘मैं भी साध्वी होना चाहती हूं पर कितना कठिन है यह मार्ग और कितनी कठिन है इसकी साधना! तूने सोचा है? मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। अनुत्तरित को उत्तरित करना मुझे जरूरी नहीं लगा। मेरे पिता का साया मुझ पर से बहुत जल्दी उठ गया था। मैं ढाई मास का था तब उनका स्वर्गवास हो गया था। यदि कहूं तो बात अस्वाभाविक लगती है पर मेरी स्मृति कहती है कि मैंने उन्हें मृत्यु-शैया पर देखा है। भाई कोई था नहीं। दो बहनें थीं। दोनों विवाहित।

दीक्षा की स्वीकृति

हमने पूज्य कालूगणीजी के दर्शन करने का निश्चय किया। हम गंगाशहर पहुंचे। पूज्य कालूगणीजी के दर्शन किए। उनके प्रदीप्त मुखमण्डल की आभा और उनकी वह मुद्रा अब भी मेरी स्मृति में वैसी ही अंकित है। मुनि मूलचन्दजी ने कहा था—‘वहां तुम मुनि तुलसी के दर्शन जरूर करना। वे आयु में छोटे हैं, पर बहुत भाग्यशाली हैं। उन पर पूज्य कालूगणी की असीम कृपा है।’ मैंने वहां पूछा—‘मुनि तुलसी कहां हैं?’ एक भाई ने बताया—‘वे छत पर बैठे हैं।’ मैं वहां गया, दर्शन किए। एकटक उनके सामने देखता रहा। उन्होंने पूछा—‘कहां से आए हो?’ ‘टमकोर से आया हूं’—मैंने उत्तर दिया। मौखिक प्रश्न और उत्तर बहुत

६८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

नहीं चला, किन्तु मूक प्रश्नोत्तर बहुत लंबा चला और वह गहरे में उतर गया। हमने दीक्षा के लिए प्रार्थना की और उसकी पूर्व-स्वीकृति मिल गई। उस दिन वहां रुके और फिर गांव चले आए।

दीक्षा

टमकोर एक छोटा गांव है। उस समय वहां कोई राजकीय विद्यालय नहीं था। मैं गुरुजी की पाठशाला में पढ़ा। वर्णमाला पढ़ी, कुछ पहाड़े पढ़े, और कुछ विशेष पढ़ने का योग नहीं मिला। ग्यारहवां वर्ष आधा बीता। माघ शुक्ला दसमी, वि. सं. १९८७ के दिन पूज्य कालूगणी का वरदहस्त हमारे सिर पर टिका। मैं मेरी माता के साथ दीक्षित हो गया। हमारी दीक्षा भंसालीजी के बाग में हुई। वहां से प्रस्थान कर पूज्य कालूगणी गधैयों के नोहरे में आए। वहीं उनका प्रवास था। वहां पहुंचते ही उन्होंने मुझे निर्देश दिया—‘तुम तुलसी के पास जाओ, वहीं तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा होगी।’ गंगाशहर में अज्ञात की उर्वरा में एक बीज-वपन हुआ था, उसे अब अंकुरित होने का अवसर उपलब्ध हो गया।

अज्ञात की प्रेरणा

मुनि-दीक्षा स्वीकारने के पश्चात् क्या करना चाहिए—इसकी दिशा मेरे सामने स्पष्ट नहीं थी। अज्ञात जब सक्रिय होता है तब ज्ञात की दिशा स्पष्ट नहीं होती। शायद ऐसा भी होता होगा कि ज्ञात की दिशा स्पष्ट होने पर अज्ञात की सक्रियता कम हो जाती है। लोगों ने मुझे बहुत बार पूछा—आप इतनी छोटी अवस्था में मुनि क्यों बने? मैं इसका क्या उत्तर देता? कुछ गढ़े-गढ़ाये उत्तर होते हैं। मैं उनमें कम विश्वास करता हूं। इसलिए मैं नहीं कहता कि मुझे संसार असार लगा इसलिए मैं मुनि बन गया। अथवा जन्म-मरण के चक्र से डरकर मैं मुनि बन गया। अथवा नरक के भय और स्वर्ग के प्रलोभन से मैं मुनि बन गया। मैं एक ही उत्तर देना पसन्द करूंगा और वही उत्तर देता रहा हूं कि कोई अज्ञात की प्रेरणा थी और ज्ञात जगत् की घटना घटी, मैं मुनि बन गया। हम अज्ञात को छोड़कर केवल ज्ञात को समझने का प्रयत्न करते हैं, केवल उसके आधार पर निष्कर्ष निकालना चाहते हैं, वह सच होने पर भी

अधूरा सच होता है, पूरा सच नहीं होता। मैं मुनि बनने और मुनि तुलसी की छत्रछाया में नयी जीवन-यात्रा चलाने को एक अज्ञात की प्रेरणा मानता हूँ। ज्ञात जगत् में इसका समाधानकारक उत्तर मुझे उपलब्ध नहीं होगा।

अध्ययन

मेरे अध्ययन का प्रारंभ दशवैकालिक से हुआ। वह एक जैन आगम है। भाषा उसकी प्राकृत है। उसमें मुनि की जीवन-यात्रा सांगोपांग निरूपित है। मेरा अध्ययन बहुत मंथर गति से चला। पूरे दिन में उसके दो-तीन श्लोक कंठस्थ कर पाता था। इस मंथर गति से मुनि तुलसी भी प्रसन्न नहीं थे और पूज्य कालूगणी भी प्रसन्न नहीं थे। वे चाहते थे—मैं त्वरित गति से जागे बढ़ूँ। कुछ दिनों तक मैं उनकी चाह को पूरा नहीं कर सका। संस्कृत और प्राकृत का कभी नाम भी नहीं सुना था। अपरिचित से परिचित होने में प्रारंभिक कठिनाई होती है। मैंने भी उस कठिनाई का सामना किया। थोड़े दिनों बाद वह कठिनाई दूर हो गई। मेरी गति तेज हुई और मैं प्रतिदिन आठ-दस श्लोक कंठस्थ करने लगा। अब सब प्रसन्न थे।

भय और प्रीति

मैंने अनुभव किया कि मैं उपात्म और साधुवाद, भय और प्रेम—दोनों का मिश्रित जीवन जी रहा हूँ। मुनि तुलसी प्रमाद होने पर उलाहना भी बहुत देते और सही कार्य करने पर साधुवाद भी देते। मेरे प्रति उनके अन्तःकरण में आकर्षण भी था और वे अनुशासनात्मक भय भी बनाए रखते थे। नीति का वचन है—भय के बिना प्रीति नहीं होती। मेरा अनुभव यह है कि प्रीति के बिना भय नहीं होता। दोनों सचाइयाँ अधूरी हैं, पर दोनों में सत्यांश अवश्य है। पूज्य कालूगणीजी जोधपुर चातुर्मास कर रहे थे। उस समय मुनि तुलसी की पूरी पाठशाला चल रही थी। उसमें आठ-दस साधु पढ़ रहे थे। अनुशासन कठोर था। केवल अध्ययन। परस्पर बातचीत करने के लिए कोई समय नहीं। हम पढ़ते-पढ़ते थक जाते। मन होता परस्पर मिलें और बातचीत करें। मुनि

७० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

तुलसी के सामने बातचीत कर नहीं सकते थे। वे प्रयोजनवश जब दूसरे स्थान में जाते तब हम बातचीत करने बैठ जाते। उनके आने का पता चलता तब फिर सब अपना पाठ कंठस्थ करने लग जाते। कभी पता नहीं चलता तो उलाहना मिलता। कभी-कभी हम एक साधु को सीढ़ियों के पास बिठा देते। वह हमें मुनि तुलसी के आने की सूचना देता और हम सब अपने अध्ययन में लग जाते। यदि हमारे मन में उनके प्रति प्रीति नहीं होती तो हम उलाहना के भय से भी मुक्त हो जाते। जो केवल डरता है, वह ढीठ बन जाता है। डर के पीछे भी एक बन्धन-सूत्र होता है और वह है प्रीति।

छापर की घटना है। एक दिन मुनिवर ने मुझे कहा—आज तुम्हें 'विगय' नहीं खानी है। यह एक भूल का प्रायश्चित्त था और मेरे जीवन में ऐसे प्रायश्चित्त का यह पहला ही अवसर था। भोजन का समय हुआ। मुनि श्री चम्पालालजी, मुनिवर और मैं—तीनों एक साथ भोजन करते। गोचरी में आम का रस आया। 'मैं नहीं खाऊँ और वे खाएं'—यह उन्हें अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कहा—'तुम खाओ।' मैंने कहा—'नहीं खाऊंगा। आपने पहले कहा था तुम्हें विगय नहीं खानी है तो अब मैं कैसे खाऊँ? मैं मेरी बात पर अड़ गया। हमारी भोजन की मंडली बड़ी थी। मुनिश्री मगनलालजी की सन्निधि में लगभग बीस-पचीस साधु एक मंडली में भोजन करते थे। उन सबके बीच कोई बातचीत नहीं की जा सकती। मुनिवर ने कुछ शब्दों के संकेतों से मुझे विवश कर दिया और मैं अपने बालहठ को छोड़ने के लिए तैयार हो गया।

किशोरावस्था की समस्या

एक किशोर के विकास में सहयोगी बनना बहुत कठिन बात है। उसके मन को तोड़कर चलने वाला भी उसका सहयोगी नहीं बन सकता और सब कुछ उसके मनचाहा करने वाला भी उसका सहयोगी नहीं हो सकता। सहयोगी वह हो सकता है, जो सब कुछ मनचाहा भी न करे और सब कुछ अनचाहा भी न करे, दोनों के बीच संतुलन स्थापित कर सके। अध्ययन में मन कम लगता। हमने (मैंने तथा मुनि बुद्धमल्लजी ने) अभिधान चिंतामणि को कंठस्थ करना शुरू किया। बड़ी

मुश्किल से दो-तीन श्लोक कंठस्थ कर पाते। हमारी रुचि इधर-उधर घूमने और बातें करने में ज्यादा रही। हमें इस स्थिति से बचाने के लिए मुनिवर हमारे साथ श्लोक रटते रहते। दो-तीन श्लोक रटने में आधा घंटा का समय बीत जाता, फिर दिन भर हम छुट्टी ही मनाते। हंसना और मुस्कराना—यह कोई सहज ही आदत बन गई थी। बहुत बार ऐसा होता कि कुछ शब्दों के उच्चारण-काल में हम हंस पड़ते। तब हमारा पाठ बंद हो जाता। हम समझते—बहुत अच्छा हुआ। फिर हमें राजी कर अध्ययन शुरू कराया जाता। किशोरावस्था की कुछ जटिल आदतों को यदि मनोवैज्ञानिक ढंग से न समझाला जाता तो शायद हम बहुत नहीं पढ़ पाते। हम जब श्लोक कंठस्थ नहीं करते तब हमें खड़ा कर दिया जाता। खड़ा रहना मेरे लिए बहुत कठिन था। आधा घंटा तक खड़ा रहना बहुत असह्य हो जाता, तब पानी पीने का या और किसी काम का बहाना लेकर मैं इधर-उधर घूम आता। यह स्थिति बहुत लम्बे समय तक नहीं चली, लगभग दो-ढाई वर्ष तक वह चली। उसके बाद हमें यथार्थ का कुछ-कुछ अनुभव होने लगा। जब तक यथार्थ का अनुभव नहीं हुआ तब तक इस कठोर अनुशासन में रहना बड़ा कठिन लगा।

कालूगणी से शिकायत

एक बार हम पूज्य कालूगणीजी के पास पहुंचे। हमने उनके चरणों में एक विनम्र प्रार्थना रखी। हमने कहा—‘गुरुदेव! तुलसी स्वामी हम पर कड़ाई बहुत करते हैं।’ पूज्य गुरुदेव ने पूछा—‘किसलिए?’ हमने कहा—‘पढ़ाने के लिए।’ फिर पूछा—‘और किसीलिए तो कड़ाई नहीं करता?’ हमने कहा—‘नहीं।’ तब गुरुदेव बोले—‘पढ़ाई के लिए तो वह करेगा, इसमें तुम्हारी नहीं चलेगी।’ हम अवाक् रह गए। आए थे आशा लिये, हाथ लगी निराशा। आचार्यवर ने कहानी सुनाई—राजा के पुत्र के सिर पर अध्यापक ने अनाज की पोटली रख दी। पढ़ाई समाप्त हुई। विद्यार्थी की परीक्षा के लिए अध्यापक राजसभा में जा रहा था। बीच में अनाज की दुकान आयी। गेहूं खरीदे। उनकी पोटली बांधी और विद्यार्थी राजकुमार को उसे उठाने को कहा। वह अस्वीकार कैसे करता, पर वह दब गया भार से और लज्जा से। परीक्षा हुई। वह सब विषयों में उत्तीर्ण

७२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

हुआ। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। अध्यापक से पूछा—‘राजकुमार ने विद्यार्जन कैसे किया?’ अध्यापक ने कहा—‘बहुत अच्छे ढंग से किया, विनयपूर्वक किया।’ राजकुमार से पूछा—‘गुरुजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया?’ राजकुमार बोला—‘बारह वर्ष तक तो अच्छा किया पर आज।’ राजा ने पूछा—‘आज फिर क्या हुआ?’ राजकुमार ने पोटली की बात सुनाई और राजा का चेहरा तमतमा उठा। पूछा तो उत्तर मिला—‘वह भी पढ़ाई का अंग था। वह पाठ राजकुमार को ही पढ़ाना था। आगे चलकर दंड वही देगा। भार उठाने में कितना कष्ट होता है, इसका भान कराना था। यह भान हो गया है। अब वह किसी से अधिक भार नहीं उठवाएगा।’ राजा के पास अब कहने के लिए कुछ नहीं था। आचार्यवर ने कहा—अध्यापक राजकुमार से पोटली उठवा सकता है, तब फिर।

हमारे पास भी वापस कहने को कुछ नहीं था। हम चले आए। मन में और चिन्ता पैदा हो गई कि मुनिवर को पता चला जाएगा तो वे क्या कहेंगे? पढ़ने को कैसे जाएं? सूर्योदय हुआ। श्लोक-वाचन के लिए सकुचाते-से गए और बांच कर बिना कुछ उलाहना लिये आ गए। कई दिनों तक मन में भय बना रहा, पर आपने कभी हमें भयभीत नहीं किया। आपको उस स्थिति का पता लग गया, पर हमें यह पता नहीं लगने दिया कि आपको उस स्थिति का पता लग गया है। अनुशासन एक कला है। उसका शिल्पी यह जानता है कि कब कहा जाए और कब सहा जाए। सर्वत्र कहा ही जाए तो धागा टूट जाता है और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है। इसलिए वह मर्यादाओं की रेखाओं को जानकर चलता है।

सि क्यों, ति क्यों नहीं

हमारे संघ में उन्हीं दिनों व्याकरण के दो ग्रन्थ तैयार हुए। मुनि चौधमलजी स्वामी और पंडित रघुनन्दनजी के संयुक्त प्रयास से ‘भिक्षु शब्दानुशासन’ तैयार हुआ और ‘कालुकौमुदी’ का प्रणयन मुनि चौधमलजी स्वामी ने किया। हम सबने ‘कालुकौमुदी’ का पाठ कंठस्थ करना शुरू किया और उसकी साधनिका भी प्रारम्भ की। मेरी स्मृति

और बुद्धि—दोनों का विकास हुआ नहीं था। मेरे और सब साथी साधनिका को हृदयंगम करते जाते थे किन्तु मुझे उसे समझने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। बीदासर की घटना है। स्वरांत पुल्लिंग की साधनिका चल रही थी। हमें बताया गया 'जिन' शब्द की प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'सि' प्रत्यय का योग करने पर 'जिनः' रूप बनता है। मैंने पूछा—हम 'सि' ही क्यों जोड़ें? इसके स्थान पर 'ति' क्यों न जोड़ें? कितना अजीब प्रश्न था! कोई मेधावी छात्र ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता। पर मैं बहुत छोटे गांव से निष्क्रमण कर आया था और गांव में मेधा या बुद्धि को विकसित होने का अवसर नहीं मिला, इसीलिए यह कठिनाई आ रही थी। आचार्य हरिभद्र ने 'ग्राम' शब्द की व्युत्पत्ति की है—जो बुद्धि आदि गुणों का ग्रास करता है, वह ग्राम है। बौद्धिक विकास के लिए एक वातावरण चाहिए। ग्राम में वैसा वातावरण नहीं मिलता, इसलिए ग्राम में रहने वालों की बुद्धि कुंठित हो जाती है। उनमें बुद्धि का बीज नहीं होता, ऐसा नहीं है। उसे प्रस्फुटित होने की सामग्री नहीं मिलती, यह एक सचाई है। मैं एक छोटा बच्चा था। मुझे बुद्धि के विकास और कुंठा—ये दोनों अवसर नहीं मिले। मेरी मंदता का कारण शायद अवस्था के साथ जुड़ा हुआ था। एक निश्चित अवस्था से पहले बुद्धि का विकास नहीं होना मेरी नियति को मान्य था।

गुरु का वात्सल्य

पूज्य कालूगणीजी को मैं बहुत प्रिय था। वे मुझ पर अनुशासन कम करते, करुणादृष्टि से प्लावित अधिक करते। श्रीडूंगरगढ़ की घटना है। सर्दी का मौसम था। मैं पूज्य गुरुदेव के सामने बैठा था। उन्होंने मेरे भावों को पढ़ा और पूछा—'क्या नाश्ता नहीं मिला?' मैंने कहा—'नहीं मिला।' 'क्या आजकल बन्द हो गया?' मैंने कहा—'हां, अभी बन्द है।' पूज्य गुरुदेव ने तत्काल साध्वी सोनांजी से कहा—'नाश्ता ला दो।' टूटी हुई शृंखला फिर जुड़ गई। नाश्ता कोई बड़ी बात नहीं थी। प्रश्न है स्नेह का, करुणा का। यदि बालक को स्नेहपूर्ण वातावरण मिलता है तो विकास की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। ताड़ना में सिकुड़न पैदा होती है और स्नेह में विकास। ताड़ना परिस्थिति विशेष में होने वाली विवशता

७४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

है। स्नेह मनुष्य का निसर्ग है। स्नेह की भावना के साथ जल का सिंचन पा एक पौधा भी लहलहा उठता है तब मनुष्य की बात ही क्या! मैंने ताड़ना बहुत कम पायी और स्नेह बहुत अधिक पाया। विकास का निमित्त पाने में मैं सचमुच सौभाग्यशाली हूँ।

हम उबर गए

पूज्य कालूगणी का एक विशेष स्वभाव था। उनके पास बैठे बाल मुनियों को वे कुछ न कुछ सिखाते रहते। एक बार उन्होंने हमें संस्कृत का एक श्लोक सिखाया—

*बालसखित्वमकारणहास्यं, स्त्रीषु विवादमसज्जनसेवा।
गर्दभयानमसंस्कृतवाणी, षट्सु नरो लघुतामुपयाति॥*

इस श्लोक का कुछ अनुदान हमें मिला। हम लघुता की दिशा में नहीं बढ़ना चाहते थे। संस्कृत के प्रति हमारा अनुराग बढ़ा और अकारण हंसने की आदत भी बदलने लगी।

एक बार उन्होंने हमें दोहा सिखाया—

*हर डर गुरु डर गाम डर, डर करणी में सार।
तुलसी डरे सो ऊबरे, गाफिल खावे मार॥*

इस दोहे ने एक भावना पैदा की। हम मुनि तुलसी से डरने लगे। मैं गोस्वामी तुलसी से परिचित नहीं था। मुनि बुद्धमल्लजी भी परिचित नहीं थे। हमने उसका यही अर्थ लगाया कि पूज्य गुरुदेव हमें यह संबोध दे रहे हैं कि जो तुलसी से डरता है वह उबर जाता है। सचमुच हमने इस संबोध को स्वीकारा और हम उबर गए।

मैं पीछे नहीं रहूँगा

पूज्य कालूगणी हमारे अध्ययन के बारे में कभी-कभी जानकारी लेते थे। वे मुख्य रूप से मुनि तुलसी पर निर्भर थे। बीदासर की घटना है। पूज्य गुरुदेव ने सभी बाल साधुओं को हस्तलिपि दिखलाने को कहा। मेरे सहपाठी और समवयस्क सभी साधुओं की हस्तलिपि सुन्दर हो गई थी। मेरी हस्तलिपि सुन्दर नहीं बन पायी। मेरी हस्तलिपि जैसे ही सामने

रखी गई, पूज्य गुरुदेव मुस्करा दिए। उन्होंने कोई टिप्पणी नहीं की। मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी वहीं बैठे थे। उन्होंने कहा—नाथूजी (वे मुझे इसी संबोधन से संबोधित किया करते थे) के अक्षर तो छत पर सुखाने जैसे हैं। छत पर उपले सुखाए जाते हैं। ये अक्षर भी जैसे ही टेढ़े-मेढ़े हैं। यह था उनके कहने का भाव। मुझे कुछ संकोच का अनुभव हुआ। बात वहीं समाप्त हो गई। अन्तर्मन में बात समाप्त नहीं हुई। 'मैं पीछे नहीं रहूंगा, सबसे आगे जाऊंगा'—अन्तश्चेतना में यह संकल्प जाग गया और दीक्षा-पर्याय के तीन वर्ष पश्चात् वह संकल्प बाह्य जगत् में प्रकट होने लगा।

आंखों में दाने

पूज्य कालूगणी बीकानेर राज्य के थली प्रदेश से प्रस्थान कर जोधपुर चातुर्मास करने जा रहे थे। डीडवाना पहुंचते-पहुंचते मेरी आंखों में 'दाने' पड़ गए। उपचार किया पर कोई लाभ नहीं हुआ। आंखों से पानी बहने लगा। पाठ बिल्कुल बन्द हो गया। मेरे सहपाठी साधुओं को आगे बढ़ने का अच्छा मौका मिल गया। डीडवाना में मुनि तुलसी को नाममाला सुना रहा था। उच्चारण में अशुद्धियां आने लगीं। मुनिवर ने उलाहने के भाव में कहा—मैं तुम्हें आगे कुछ नहीं पढ़ाऊंगा। आगे का अध्ययन बन्द करो। जो ग्रन्थ कंठस्थ किए हुए हैं, उन्हें शुद्ध करो, फिर आगे बढ़ो।

पाठ शुद्ध कैसे हुआ?

हम विहार करते-करते लूनी जंक्शन पहुंचे। पूज्य कालूगणी ने बालोतरा की ओर विहार किया और मेरी आंखों से पानी ज्यादा गिरने लगा, इसलिए मुझे मुनि हेमराजजी के साथ जोधपुर भेज दिया। पढ़ना बिलकुल बन्द था। मुनि हेमराजजी ने मुझे प्रोत्साहित किया—तुम प्रतिदिन कंठस्थ-पाठ का जितना पुनरावर्तन करोगे उतना मैं अंकित करता जाऊंगा और पूज्य कालूगणी के यहां पधारने पर उन्हें सब निवेदित कर दूंगा। मैंने पुनरावर्तन शुरू किया। अभिधान चिन्तामणि के पन्द्रह सौ से अधिक श्लोक हैं। एक दिन में कई बार उनका पुनरावर्तन कर लेता। ढाई मास के पश्चात् गुरुदेव चातुर्मास के लिए वहां पधारे। मुनि हेमराजजी ने मेरे पुनरावर्तन का लेखा-जोखा उनके चरणों में प्रस्तुत

किया। वह पुनरावर्तन कई लाख श्लोकों की संख्या का हो गया था। पूज्य कालूगणी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझे साधुवाद दिया और साथ-साथ मुनि हेमराजजी को भी साधुवाद मिला। मैं अपने विद्यागुरु के पास गया। मैंने पाठ के पुनरावर्तन की बात बताई। वे प्रसन्न हुए, पर पूरे प्रसन्न नहीं हुए। उन्हें पता था कि मैंने गलतियों से भरे पाठ का ही पुनरावर्तन किया है। जब उन्हें दशवैकालिक, कालकौमुदी का पूर्वार्ध और अभिधान चिंतामणि का पाठ सुनाया तो वे प्रसन्न ही नहीं हुए, आश्चर्य से भर गए।

‘पाठ शुद्ध कैसे हुआ’—इस आश्चर्यपूर्ण प्रश्न का उत्तर कौन देता? मैं पुस्तक पढ़ता नहीं था, केवल पुनरावर्तन करता था। मुझे स्वयं भी पता नहीं लगा कि पाठ शुद्ध कैसे हो गया। आज उस घटना का उत्तर आसान लगता है। आंखें बाह्य जगत् के साथ अधिकतम संपर्क स्थापित करती हैं और अधिकतम विक्षेप उत्पन्न करती हैं। उन दिनों आंखों का सहज ही संयम हो रहा था। बाहर जाने वाली चेतना भीतर में लौट रही थी और भीतर की सक्रियता बढ़ रही थी। कोई आश्चर्य नहीं कि जिस शुद्ध रूप में पाठ कंठस्थ किया था, उसी पाठ की चेतना जाग गई और पाठ-शुद्धि अपने आप घटित हो गई।

सफलता की ओर

मेरी अवस्था बदल चुकी थी। सबसे पीछे रहने वाला मैं अब दौड़ में आगे जाने की तैयारी करने लगा। मैंने निश्चय किया—अब मैं सबसे आगे रहूंगा। मैंने अपने साथियों से पूछा कि वे कालुकौमुदी के उत्तरार्ध का कौन-सा हिस्सा कंठस्थ कर रहे हैं पर किसी ने बताया नहीं। मैंने कंठस्थ करने की गति तेज कर दी। चातुर्मास पूरा होते-होते मैं प्रायः सबसे आगे चला गया और पीछे किसी से भी नहीं रहा। चातुर्मास के मध्य में एक बार कालूगणी ने हम सब विद्यार्थियों की परीक्षा ली। उसमें भी मेरा स्थान अच्छा रहा। उस सफलता ने भावी सफलताओं का दरवाजा खोल दिया। ‘भांढा’ गांव में पाठ के उच्चारण की परीक्षा हो रही थी। पूज्य कालूगणी स्वयं परीक्षा ले रहे थे और मंत्री मुनि मगनलालजी पास में बैठे थे। कुछ विद्यार्थी साधुओं की परीक्षा हो चुकी

थी। मैं शौच से निवृत्त होकर कुछ विलम्ब से आया। मंत्री मुनि ने कहा—नाथूजी! आओ और इस पाठ का उच्चारण करो। मैंने उस पाठ को पढ़ा और उसमें सफल रहा। मंत्री मुनि बोले—आज तो यह बहुत सफल रहा है। तब पूज्य कालूगणी ने कहा—अभी बच्चा है। अभी सफलता का क्या पता चले?

पाली में मैंने पार्श्वनाथ स्तोत्र की प्रतिलिपि की। वह प्रति पूज्य गुरुदेव के सामने प्रस्तुत की। उन्होंने उसे देखा और प्रसन्नमुद्रा में कहा—‘अब तुम्हारी लिपि ठीक हो गई है।’ मुझे अपनी सफलता पर विश्वास होता गया।

कविता का द्वार खुल गया

पूज्य कालूगणी जोधपुर में चातुर्मास बिता रहे थे। भाद्रव शुक्ला पूर्णिमा उनके पट्टारोहण का दिन था। हम विद्यार्थी साधु भी गुरुदेव के अभिनन्दन में कुछ बोलना चाहते थे। हमने मुनिवर से प्रार्थना की और उन्होंने हम सबके लिए श्लोक बना दिए। मुझे श्लोक पसन्द नहीं आए। मैंने कहा—‘आपने दूसरे साधुओं के लिए श्लोक अच्छे बनाए हैं, मेरे श्लोक उन-जैसे नहीं हैं।’ मुनिवर ने कहा— ‘तुम्हारे श्लोक अच्छे हैं।’ मैं अपने आग्रह पर अड़ा रहा और आप मुझे समझाते रहे। आखिर मैं माना ही नहीं, तब आप बोले—‘आज से यह प्रतिज्ञा है कि भविष्य में फिर तुम्हारे लिए श्लोक नहीं बनाऊंगा।’ इस प्रतिज्ञा ने मेरे लिए कविता का द्वार खोल दिया। उस आग्रह पर जब-जब मैं उस श्लोक को पढ़ता हूँ तो मुझे मेरे अज्ञान पर हंसी आती है। मैं मानता हूँ कि मुनिवर ने जो निष्ठा का वरदान देना चाहा, उसे मैं समझ नहीं सका। मेरे न समझने पर भी उन्होंने वह वरदान मुझे दे दिया। तब मैं समझ सका कि श्लोक कितना मूल्यवान् है—

‘तात के पुत्र अनेक हुवै पर नन्दन के पितु एक कहावै,
ज्युं धन के बहु इच्छु हुवै पिण चातक तो चित्त मेघ ही ध्यावै।
सागर के मच्छ-कच्छ हुवै बहु मीन तो चित्त समुद्र ही चावै,
त्यो गुरु के बहु शिष्य हुवै पिण एक गुरु नित शिष्य कै भावै॥’

७८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

मुनि तुलसी का प्रोत्साहन

प्रत्येक व्यक्ति के मन में विकास की, आगे बढ़ने की भावना रहती है। एक किशोर में भी यह भावना बीजरूप में रहती है। उसे प्रोत्साहन मिलता है तो वह प्रस्फुटित हो जाती है। मुनिवर मुझे बार-बार कहते—तुम श्रम नहीं करोगे तो पीछे रह जाओगे और पूरा श्रम करोगे तो सबसे आगे जा सकते हो। पीछे रहने की बात कभी अच्छी नहीं लगती। मन में एक स्पर्धा जाग गई और मैं सदा इस स्थिति में जागरूक हो गया। एक दृढ़ संकल्प जाग गया—मैं किसी से पीछे नहीं रहूंगा। पूज्य कालूगणी कहा करते थे—‘बातेडी की विगडे’; ‘जो बातूनी होता है, बातों में ही रस लेता है, पढ़ने में रस नहीं लेता, वह विगड़ जाता है।’ इस उक्ति ने मन पर चोट की और बातों में रस कम होने लगा। मुनिवर ने कितनी बार इस सचाई को समझाया—अभी तुम बातें करोगे तो जीवन भर दूसरों के नियंत्रण में रहना होगा। इस समय अध्ययन करोगे तो बड़े होने पर स्वतंत्र हो जाओगे। फिर चाहे जितनी बातें करना, कोई टोकने वाला नहीं होगा। युक्ति-संगत बात मन में घर कर जाती है। कोरा आक्रोश या कोरा उलाहना जहां प्रतिक्रिया पैदा करता है वहां युक्ति-संगत बात अन्तःकरण को छू लेती है। सचमुच आकर्षण की धारा बदल गई। मन अधिक से अधिक ज्ञानार्जन करने के लिए उत्सुक हो गया।

धातुपाठ

उन दिनों कंठस्थ करने की परंपरा बहुत प्रचलित थी। मैं एक दिन पूज्य कालूगणी के पास पहुंचा। उन्होंने कहा—‘अभी धातुपाठ कंठस्थ किया या नहीं?’ मैंने कहा—‘नहीं किया।’ उन्होंने कहा—‘कंठस्थ करो।’ मैंने उसे कंठस्थ कर लिया। मुनि तुलसी ने आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण कंठस्थ करना शुरू कर दिया। पूज्य गुरुदेव ने मुझे कहा—‘तुम भी उसे कंठस्थ करो।’ मुझे कुछ मानसिक संकोच हुआ—मैं मेरे विद्या-गुरु के साथ कैसे चल पाऊंगा? पर मुनिवर ने यही चाहा और प्राकृत व्याकरण को कंठस्थ करने में उन्होंने मुझे अपना साथी बना लिया।

स्वस्थता चर्म चक्षुओं की

मैंने जोधपुर में आंखों की चिकित्सा कराई। कुछ लाभ हुआ पर पर्याप्त लाभ 'नहीं' हुआ। दानों की चुभन और पानी गिरना—ये चलते रहे। मुनिवर ने अनेक उपाय किए। वे केवल अध्ययन ही नहीं, जीवन की सारी व्यवस्था को संभाले हुए थे। आंख का प्रश्न बहुत बड़ा प्रश्न है। हम लोग 'खेरवा' में थे। आंखों की चुभन के कारण नींद नहीं आ रही थी। मन उद्वेलित हो उठा। मन में संकल्प और विकल्प का जाल-सा बिछ गया। सोचा, आंखों की यही स्थिति रही तो जीवन व्यर्थ ही चला जाएगा। मैं अध्ययन नहीं कर पाऊंगा और न ही विकास कर पाऊंगा। पूज्य गुरुदेव के साथ भी कैसे रह सकूंगा? क्या मुझे मुनिवर से भी अलग रहना पड़ेगा? लम्बे समय तक ये संकल्प मुझे सताते रहे। फिर अचानक आस्था का स्वर जागा। रात के चार बजे होंगे। मन में अकल्पित शक्ति उतर आयी। मन ही मन मैंने कहा—'मैं बिल्कुल ठीक हो जाऊंगा। मेरी आंखों की बीमारी ठीक हो जाएगी और मैं अपने लक्ष्य तक पहुंच जाऊंगा।' दिन में मैंने सारी बात मुनिवर को बताई। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया। मेरा मन और अधिक हल्का हो गया। उन्होंने उपचार की ओर अधिक ध्यान दिया। अनेक औषधियों का प्रयोग किया, पर लाभ नहीं हुआ। उदयपुर में दानों को मिश्री से घिसना शुरू किया। उससे कुछ लाभ हुआ और बीमारी की भयंकरता समाप्त हो गई। मैं अनुभव करता हूँ कि मेरे विद्या-गुरु ने मुझे अन्तश्चक्षु का ही दान नहीं दिया, चर्म-चक्षुओं का भी दान दिया है।

अप्रसन्नता के क्षण

मुनि छत्रमलजी व्याख्यान की सामग्री का संकलन करते थे। मेरे मन में भी यह भावना जागी। मैंने भी उसके संकलन का निर्णय किया। मुनिवर को पता चला। उन्होंने मनाही कर दी। मुझे ठेस लगी। उस समय उसकी जरूरत नहीं थी, पर विद्यार्थियों में होड़ चलती थी। कोई एक विद्यार्थी साधु व्याख्यान की सामग्री संकलित करे तो दूसरा कैसे नहीं करे? मैंने फिर आग्रह किया। मुनिवर अप्रसन्न हो गए। मैं इस विषय में बहुत जागरूक रहता कि वे अप्रसन्न न हों। पर कभी-कभार

८० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

वे अप्रसन्न हो जाते तो उन्हें प्रसन्न किए बिना मुझे चैन नहीं मिलता। एक बार सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं उन्हें वन्दना करने लगा। मैंने विनम्र स्वर में कहा—‘भेरी कोई भूल हुई हो तो मुझे बताएं। मुझे क्षमा करें। आप अप्रसन्न न रहें।’ वे नहीं बोले। मैं अपना हाथ उनके पैरों में टिकाए हुए वन्दना की मुद्रा में बैठा रहा। फिर भी वे नहीं बोले। लगभग दो घंटे बीत गए। प्रहर रात आ गई। सोने का समय हो गया। वे पूज्य कालूगणीजी के पास चले गए और मैं मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी के पास सोने के लिए चला गया।

तादात्म्य

मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी मुनिवर के बड़े भाई थे। हमारी रहन-सहन की सारी व्यवस्था वे ही करते थे। हम दो व्यक्तियों के कठोर अनुशासन में चल रहे थे। मुनिश्री चम्पालालजी स्वामी का अनुशासन भी बहुत कठोर था। वे हम लोगों पर काफी कड़ा नियंत्रण रखते और थोड़ी-सी भूल होने पर बहुत अप्रसन्न हो जाते। उन्हें प्रसन्न करना भी कोई सरल काम नहीं था। गाय दूध देती है तो उसकी चोट भी सह ली जाती है। हमें निरंतर दूध मिलने का अनुभव हो रहा था इसलिए हम उनकी अप्रसन्नता को भी सह लेते और उन्हें प्रसन्न करने में हमें अधिक प्रसन्नता का अनुभव होता। अनुशासन में रहने वाला व्यक्ति कितना पकता है और कैसे पकता है, इसका हमें अच्छा अनुभव है। हमारे अनुभव से दूसरे विद्यार्थी भी काफी लाभान्वित हो सकते हैं। अनुशासन की सबसे पहली शर्त है—तादात्म्य। उसके बिना अनुशासन करने वाला और उसे सहने वाला—दोनों ही सफल नहीं हो सकते।

अनुशासन को मैं बहुत व्यापक अर्थ में स्वीकार करता हूँ। वह केवल निषेधात्मक नहीं है। अवांछनीय आचरण और व्यवहार को रोकना ही अनुशासन नहीं है। वह उसका एक छोटा-सा पक्ष है। अनुशासन का व्यापक स्वरूप है—विवेकशक्ति का विकास और नियंत्रण-शक्ति का विकास। विवेक और नियंत्रण की शक्ति का विकास होने पर व्यक्ति का जीवन स्वयं शासित हो जाता है। फिर उसके लिए दूसरे का अनुशासन जरूरी नहीं है। अनुशासन कुंठा पैदा करने की प्रक्रिया नहीं

है। वह प्रक्रिया है आत्मानुशासन को जगाने की। हम कभी-कभार कुंठा पैदा करने वाले अनुशासन की सीमा में भी रहे, पर अधिकांशतः हम आत्मानुशासन जगाने वाले अनुशासन में ही पले। इसलिए अच्छाइयों को पकड़ने में हमारी अन्तश्चेतना सदा गतिशील रही।

गुरु का अनुग्रह

पूज्य कालूगणी का मुझ पर बहुत अनुग्रह था। वे मेरे हितों का बहुत ध्यान रखते थे। लाडनू की घटना है। भयंकर सर्दी का मौसम। हम लोग शौचार्थ जंगल में जाते थे। मैं प्रायः पूज्य गुरुदेव के साथ ही जाता था। एक दिन दूसरी दिशा में चला गया। पूज्य गुरुदेव ने स्थान पर आते ही पूछा—नल्यू कहां है? संतों ने कहा—वह मुनि तुलसी के लिए होमियोपैथी दवा लाने के लिए गया है। उन्होंने पूछा—सर्दी बहुत है। कंबल ओढ़कर गया या नहीं? संतों ने मेरी निश्चा के उपकरण देखे। कंबल वहीं पड़ा था। पूज्य गुरुदेव ने दो साधुओं को निर्देश दिया—‘तुम कंबल ले जाओ और उसे कंबल ओढ़ा दो।’

इस घटना की मेरे किशोर-मन पर एक प्रतिक्रिया हुई। मन में अनुशासन का भाव जागा। पूज्य गुरुदेव मेरे हितों का इतना ध्यान रखते हैं तब उनका प्रत्येक आदेश-निर्देश हित की दृष्टि से ही होता है।

एक बार दो कंबल आए। एक मुझे लेना था और एक मुनि बुद्धमल्लजी को। दोनों एक-जैसे थे। एक बिलकुल साफ था। एक पर कुछ धब्बे थे। मैंने कहा—यह साफ कंबल मैं लूंगा। मुनि बुद्धमल्लजी ने भी वैसा ही आग्रह किया। हम दोनों का आग्रह देख पूज्य गुरुदेव ने वह किसी को नहीं दिया। दोनों कंबल अपनी पछेवड़ी (चादर) से ढांक लिये। उनके केवल दो सिरे बाहर निकाले और हम दोनों से कहा—जो इच्छा हो, वह एक सिरा पकड़ लो। हमने एक-एक सिरा पकड़ लिया। जो साफ-सुथरा था वह मुनि बुद्धमल्लजी के हिस्से में चला गया। फिर भी मैं अप्रसन्न नहीं हुआ। सहज ही मेरे मन पर एक छाप पड़ी कि समता का मूल्य प्रियता से भी ज्यादा है।

गतिमान् बनाने के प्रयत्न

मेरी गति व्यवस्थिति नहीं थी। मैं चलता तब पैर इधर-उधर पड़ते।

८२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

दोपहर के समय जब एकान्त होता तब पूज्य गुरुदेव कहते—तुम चलो। मैं चलता तब उनका निर्देश मिलता—पैर ठीक ढंग से रखो। न जाने कितनी बार चलने का अभ्यास कराया। मैं मानता हूँ कि यह मुझे गतिमान् बनाने का ही प्रयत्न था। कुछ छोटी-छोटी बातों से जीवन का निर्माण कैसे होता है, इसे केवल बड़ी बातों में विश्वास करने वाले नहीं समझ पाते। हम लोग स्थान से बाहर जाते हैं तब 'पछेवड़ी' के गांठ लगाकर जाते हैं। मैं प्रातःकाल पूज्य गुरुदेव के साथ बाहर जाने के लिए तैयार होकर वहां चला जाता। पूज्य गुरुदेव कहते—गांठ ठीक से नहीं लगी। वे उसे अपने हाथों से खोलते और फिर अपने हाथों से ही गांठ लगाते। लम्बे समय तक यह सिलसिला चला। इस छोटी-सी घटना ने क्या यह पाठ नहीं पढ़ाया कि मन की जटिल ग्रन्थियों को खोलना हम सीख जाएं और कोई गांठ पड़े तो भी वह इतनी उलझी हुई न हो, जिसे खोलना कठिन बन जाए।

अपाय : उपाय

मालवा की यात्रा हो रही थी। सर्दी का मौसम था। हमारी संघीय व्यवस्था के अनुसार सोने का स्थान विभाग से निश्चित होता है। हम दीक्षा-पर्याय में बहुत छोटे थे। दीक्षा-पर्याय में बड़े साधुओं को अच्छा स्थान मिल गया और हमें सोने के लिए एक खुला स्थान मिला, जिसके कई दरवाजे थे। किवाड़ बिलकुल नहीं थे। मुनिश्री चंपालालजी स्वामी को पता चला, तब वे आए और उन्होंने हम सबसे कहा—अपने-अपने सिरहाने में जो नया कपड़ा है, वह निकालो। हमने निकाल दिए। उन्होंने कपड़ों को तानकर एक तंबू-सा खड़ा कर दिया। चारों ओर से बंद एक कपड़े का कमरा बन गया। हमने सीखा—हर अपाय के लिए उपाय होता है। यदि उपाय की मनीषा जाग जाए तो अपायों को निरस्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

मेरे जैसे बनोगे?

पूज्य कालूगणी की जन्मभूमि छापर में मर्यादा-महोत्सव का आयोजन हो रहा था। मुनिवर वहां नहीं थे। शारीरिक अस्वस्थता के कारण लाडनू में

ही रह गए थे। सुखलालजी स्वामी और मुनि अमोलकचंदजी लाडनूं से छपर आए। उन्होंने आचार्यवर से प्रार्थना की—मुझे वहां भेजा जाए। आचार्यवर ने उसे स्वीकार कर लिया। साध्वीप्रमुखा झमकूजी को इसका पता चला। मेरे रजोहरण का प्रतिलेखन वे करती थीं। मध्याह्न के समय मैं उनके पास गया। उन्होंने कहा—आप लाडनूं जा रहे हैं? मैंने कहा—जा रहा हूं। वे बोलीं—फिर आपको गुरुदेव अपने पास नहीं रखेंगे, सदा के लिए अलग विहार करने वाले साधुओं के साथ भेज देंगे। मैं कुछ असमंजस में पड़ गया। मैं पूज्य गुरुदेव के पास पहुंचा, साध्वीप्रमुखा ने जो बात कही, वह बता दी। पूज्य गुरुदेव ने मृदु मुस्कान के साथ कहा—तुम तुलसी के पास लाडनूं चले जाओ। कोई चिन्ता मत करो। मैंने मुनि-द्वय के साथ लाडनूं के लिए विहार किया। बीच में हम लोग एक दिन सुजानगढ़ रुके। वहां नथमलजी स्वामी का आतिथ्य स्वीकार किया। दूसरे दिन लाडनूं पहुंचे। मुनिवर ने तथा अन्य सभी साधुओं ने हमारी अगवानी की। अलग रहने में मुझे जो कठिनाई अनुभव हो रही थी, उसका समाधान हो गया। अध्ययन फिर से चालू हो गया। मुनिवर को भी पूज्य कालूगणी से अलग रहने के कारण एक रिक्तता अनुभव हो रही थी। उसे यत्किंचित् मात्रा में भरने का श्रेय मुझे उपलब्ध हुआ, यह मैं मानता हूं।

एक दिन की घटना है। सभी साधु गोचरी के लिए गये थे। मैं मुनिवर के पास बैठा था। उन्होंने मुझे अध्ययन के लिए प्रेरणा दी, जीवन-विकास के कुछ सूत्र बताए और फिर कहा—तुम भी मेरे जैसे बनोगे? मैंने कहा—मुझे क्या पता? आप बनायेंगे तो बन जाऊंगा।

जीवन के आलोक-सूत्र

मुझे दूसरे साधु बहुत भोला समझते थे। मैं भोला अवश्य था, पर वे जितना समझते थे उतना नहीं था। सरलता मुझे प्रिय थी। कपट, प्रपंच, छलना और प्रवंचना से मुझे बहुत घृणा थी। मैं सबके प्रति निश्छल व्यवहार करना पसंद करता था। मैं अपने प्रति, अपने हितों के प्रति सतत जागरूक था। मैंने अपने लिए कुछ सफलता के सूत्र निश्चित किए थे। मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगा, जो मेरे विद्यागुरु को अप्रिय लगे।

८४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

मैं ऐसा कोई काम नहीं करूंगा, जिससे मेरे विद्यागुरु को यह सोचना पड़े कि मैंने जिस व्यक्ति को तैयार किया, वह मेरी धारणा के अनुरूप नहीं बन सका। मैं किसी भी व्यक्ति का अनिष्ट चिन्तन नहीं करूंगा। मेरी यह निश्चित धारणा हो गई थी—दूसरे का अनिष्ट चाहने वाला, उसका अनिष्ट कर पाता है या नहीं कर पाता, किन्तु अपना अनिष्ट निश्चित ही कर लेता है। इन सूत्रों ने मेरा जीवन-पथ सदा आलोकित किया। मुझे कभी भी दिग्भ्रान्त होने का अवसर नहीं मिला।

संधि-काल

गंगापुर में पूज्य कालूगणीजी का स्वर्गवास हो गया। समूचे संघ को वह वज्राघात जैसा लगा। मुनि तुलसी अब आचार्य हो गए। पहले वे हम से बहुत निकट थे। अब कुछ दूर-से लगने लगे। पहले केवल हमारे थे, अब वे सबके हो गए। ऐसा लगा, पहले जो करुणा की सघनता थी वह छितरा गई। पहले उसके भागीदार हम कुछेक साधु ही थे, अब हजारों-हजारों व्यक्ति हमारे सहभागी हो गए। उनसे अलग आहार करना भी अच्छा नहीं लग रहा था, पर अब सह-भोज भी संभव नहीं था। अध्ययन की व्यवस्था भी कुछ समय के लिए गड़बड़ा गई। ये सारे संधिकाल के अनुभव हैं। जैसे-जैसे समय बीता, वैसे-वैसे स्थितियों का नवीनीकरण होता गया।

दोहरी चोट

गंगापुर से विहार कर गुरुदेव बागोर पहुंचे। वहां मुझे एक नया अनुभव हुआ। आदेश की घोषणा की गई—पांच मिनट के भीतर सब सांधु जहां गोचरी का विभाग होता है वहां चले जाएं, कोई अपने स्थान पर बैठा न रहे। हमारे संघ में आचार्य के आदेश का पालन बड़ी तत्परता के साथ होता है। सभी साधु अपने-अपने पात्र लेकर उस स्थल पर पहुंच गए। मैं भी पहुंच गया। जिस स्थान पर गोचरी का विभाग हो रहा था, उसके पास ही एक केलू का छपरा था। मैं वहां जाकर बैठ गया। शिवराजजी स्वामी ने मुझे देखा और बोले—बैठने की मनाही है, फिर तुम कैसे बैठे? मैंने कहा—यह विभाग का स्थल है। यहां बैठने की

मनाही नहीं है। अपने-अपने स्थान पर बैठने की मनाही थी। मैं वहां से यहां आ गया। यह विभाग का स्थल है। यहां कोई खड़ा रहे या बैठे, इससे आपको क्या? वे हमारे संघ में 'कोतवाल' कहलाते थे। वे अनुशासन की क्रियान्विति का पूरा ध्यान रखते थे। बड़े जागरूक व्यक्ति थे। मेरा तर्क बहुत साफ था। फिर भी उनके गले नहीं उतरा। वे गुरुदेव के पास पहुंचे, सारी घटना गुरुदेव के सामने रख दी। गुरुदेव ने मुझे बुलाकर कहा—तुम वहां क्यों बैठे? मैंने अपना तर्क फिर दोहराया। गुरुदेव को मेरा तर्क मान्य नहीं हुआ। उन्होंने मुझे बहुत कड़ा उलाहना दिया। मैंने विनम्रभाव से उसे सुना और सहा। मैं कुछ भी नहीं बोला। चुपचाप अपने स्थान पर आ गया किन्तु मेरा मन प्रतिक्रिया से भर गया। मैं मन ही मन सोचता रहा—मेरा कोई प्रमाद नहीं हुआ। मैंने कोई गलती नहीं की। शिवराजजी स्वामी ने अपने आवेश के कारण मुझे फंसा दिया और गुरुदेव ने भी उनकी बात मानकर मुझे उलाहना दे दिया। यह प्रतिक्रिया लम्बे समय तक मेरे मन पर होती रही। मैं काफी समय तक इस घटना को अपने मन से नहीं निकाल सका। यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं थी। पर मेरे लिए यह बड़ी बात इसलिए बन गई कि मेरी भावना पर दोहरी चोट पहुंची। मैं कल्पना नहीं करता था कि गुरुदेव की इतनी प्रियता होते हुए भी अकारण ही उनसे इतना कड़ा उलाहना सुनना पड़ेगा। दूसरी बात, मेरे मन पर एक छाप थी कालूगणी के व्यवहार की। मैंने सुना था—पूज्य कालूगणी को आचार्यों से कभी उलाहना नहीं मिला। मेरे मन का भी संकल्प था कि मैं भी कभी गुरुदेव से उलाहना नहीं सुनूंगा। मेरा संकल्प टूटता-सा लगा, इससे मुझे बहुत आघात पहुंचा।

मंत्री मुनि की सीख

मैं कोई प्रमाद न करूं, कभी उलाहना न सुनूं, किसी के प्रति कोई अनिष्ट चिन्तन न करूं, अध्ययन में किसी से पीछे न रहूं—इन छोटे-छोटे संकल्प-सूत्रों ने मेरी चेतना के जागरण में योग दिया, ऐसा मैं अनुभव करता हूं। जीवन-निर्माण में छोटी-छोटी बातें बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं मंत्रीमुनि श्री मगनलाल स्वामी के

८६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

पास गया। उन्होंने सहजभाव में दो बोल कहे, वे मेरी अहंकार-मुक्ति की साधना में संबल बन गए। उन्होंने कहा—‘विद्या का और गुरु-कृपा का अहंकार नहीं होना चाहिए। हम मुनि हैं। हम किस बात का अहंकार करें! मांगना बहुत छोटा काम है। हम रोटी के लिए दूसरों के सामने हाथ पसारते हैं, फिर अहंकार किस बात का? न जाने कितनी बार यह जीव बेर की गुठली बनकर पैरों में रौंदा जा चुका है। फिर अहंकार किस बात का? इन छोटे-छोटे बोलों ने मन की गहरी परतों को छू लिया। अहंकार मेरी मृदुता पर कभी आक्रमण नहीं कर सका।

स्वतन्त्र प्रवास

वि. सं. २००१ का चातुर्मासिक प्रवास मैंने सरदारशहर में किया। गुरुदेव के पास रहकर मैं जो अध्ययन कर सकता था, वह वहां नहीं हुआ। चातुर्मास के पश्चात् मैं फिर गुरुदेव के पास पहुंचा और फिर अध्ययन का क्रम चालू हो गया। एक मुनि ने कहा—‘आपने इनको अलग क्यों भेजा?’ गुरुदेव ने कहा—‘इनका स्वभाव संकोचशील बहुत है। संकोच को कम करने के लिए मैंने इन्हें अलग भेजा। व्याख्यान देना बहुत जरूरी है। यहां मेरे पास व्याख्यान देने की कला भी नहीं सीखी जाती। इसलिए भी अलग भेजना जरूरी था।’ मैं यह सारी बात एक तटस्थ श्रोता की भांति सुन रहा था। मैंने सोचा—मेरे आचार्य मेरे लिए जो भी प्रिय या अप्रिय करते हैं, वे किसी चिन्तन के साथ करते हैं, मेरे हितों को ध्यान में रखकर करते हैं। इसलिए गुरुदेव जो भी करें, उसमें तार्किक बुद्धि का प्रयोग अपेक्षित नहीं लगता।

विश्वास का निदर्शन

मैं दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र का विद्यार्थी था, फिर भी गुरुदेव के आदेशों-निर्देशों को प्रायः बिना तर्क के स्वीकार करने में सफल रहा हूं। मुझे गुरुदेव पर विश्वास रहा है और वे भी मुझ पर विश्वास करते रहे हैं। कलकत्ता में जापान की बमबारी हुई। तेरापंथी महासभा के पुस्तकालय की हजारों-हजारों पुस्तकें गंगाशहर में लायी गईं। गुरुदेव का वहां चतुर्मास हुआ। मुझे संस्कृत और प्राकृत की बहुत पुस्तकें पढ़ने का अवसर मिला। मैं मानता हूं, उस चातुर्मास में मेरे अध्ययन की नयी

दिशाएं उद्घाटित हुईं। मैं सायंकाल प्रतिक्रमण के पश्चात् गुरुदेव की वन्दना करने गया। पास में ही मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी बैठे थे। वन्दना के अनन्तर उन्होंने पूछा—आजकल क्या कर रहा है? मैंने कहा—कर्म-ग्रन्थ पढ़ रहा हूं। तत्त्वार्थसूत्र की टीका पढ़ रहा हूं। और भी कुछ नाम गिनाए। वे तत्काल गुरुदेव की ओर मुड़े और बोले—महाराज! यह इतने ग्रन्थ पढ़ रहा है। मूल धारणा में पक्का तो है न? कोई खतरा तो नहीं है? गुरुदेव ने कहा—कोई खतरा नहीं है। सब ठीक है। विश्वास विश्वास से बढ़ता है। गुरु जब इतना विश्वास करे तो शिष्य भी जी भर कर उस विश्वास की सुरक्षा का प्रयत्न करता है। मैंने इस सचाई को जीवन में अनेक बार साकार होते देखा है।

जीवन के पांच दशक

मेरे मुनि-जीवन का पांचवां दशक चल रहा है और मेरे विद्यार्थी-जीवन का भी पांचवां दशक चल रहा है। इन पांच दशकों में आचार्यश्री तुलसी ने मुझे जितनी प्रेरणाएं दीं, उतनी प्रेरणाएं एक गुरु ने अपने शिष्य को दीं या नहीं दीं, यह अनुसंधान का विषय है। शताब्दियों में ही कोई विरला गुरु होता है, जो अपने शिष्य को इतनी प्रेरणा देता है। मैंने केवल तेरह वर्ष के मुनि-जीवन का एक विहंगावलोकन किया है। प्रेरणा के मुख्य स्रोतों का अभी स्पर्श भी नहीं हुआ है। संस्कृत और प्राकृत जैसी प्राच्य भाषाओं का तलस्पर्शी अध्ययन, आशुकवित्त्व, दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, साम्यवाद आदि राजनीतिक दर्शनों का अध्ययन, पश्चिमी दर्शनों का अध्ययन, आचार्य भिक्षु और श्रीमज्जयाचार्य के साहित्य का अध्ययन, जैन आगमों का शोधपूर्ण संपादन, प्रवचन की जनभोग्य शैली, जैन परंपरा में ध्यान की विच्छिन्न शृंखला का अनुसंधान और उसका प्रयोगात्मक रूप, प्रेक्षाध्यान के शिविरों का संचालन आदि-आदि अनेक बिन्दु हैं जो समय-समय पर मिली हुई प्रेरणाओं से दीर्घ रेखाओं में बदले हैं। उन सबकी चर्चा कभी अपनी आत्मकथा में करना चाहूंगा। एक निबन्ध में उसकी चर्चा सम्भव नहीं है।

सृजन की नियति

गुरुदेव ने एक कुशल शिल्पी और एक कुशल कर्मी के रूप में एक

८८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

प्रतिमा को गढ़ा और ऐसे प्रस्तर की प्रतिमा को गढ़ा, जिसका कोई मूल्य नहीं था। प्रतिमा का इस प्रकार निर्माण किया कि उसे यह अनुभव भी नहीं होने दिया कि उसमें किसी विशिष्ट शक्ति का अवतरण या आरोपण किया जा रहा है। कोरा ज्ञान होता तो शून्य पूरा भरता नहीं। उसमें अहंकार को अपना आसन बिछाने का अवसर मिल जाता। ज्ञान के बाद ध्यान की प्रेरणा ने उस शून्य को भर दिया। यदि कोरा ज्ञान होता, ध्यान नहीं होता तो तेरापंथ के नेतृत्व को, सर्वोच्च पद को, उपलब्ध कर मन हर्ष से भर जाता। इस एकछत्र गरिमामय पद पर आचार्य द्वारा नियुक्ति होना एक महत्त्वपूर्ण अवसर है। इस अवसर पर अन्तःकरण में समत्व का भाव जागृत रहे, यह उस सृजन की ही विशेषता है, जिसमें ज्ञान और ध्यान के तत्त्व संतुलित रहे और उनकी फलश्रुति समता के रूप में प्रतिष्ठित रही। एक भाई ने कहा—युवाचार्य बनने के बाद भी शरीर का वजन नहीं बढ़ा, यह कैसे? कोई छोटा-मोटा पद प्राप्त होता है तो भी व्यक्ति शरीर में फूल जाता है, कुर्सी भर जाती है। इतना सर्वोच्च पद पर लेने पर भी परिवर्तन क्यों नहीं आया? मैंने स्मित के साथ कहा—गुरुदेव ने मुझे पहले योगी बना दिया और बाद में युवाचार्य बनाया। इसलिए ऐसा नहीं हो सकता। 'वपुः कृशत्व'—ध्यान सिद्धि का पहला लक्षण है शरीर की कृशता। इसलिए मांसल होना शायद मेरी नियति में ही नहीं है। आदमी हर्ष से मोटा होता है पर मेरे आचार्य ने मुझे पहले ही समता में प्रतिष्ठित कर दिया, इसलिए विशिष्टता उपलब्ध होने पर हर्ष की बात भी मेरी नियति में नहीं है। मेरे सृजन की नियति है समता। इसका विकास ही मेरी दृष्टि में मेरी सफलता और मेरे सृजन की सफलता है।

नए उन्मेष

वि. सं. २००० मेरे जीवन में नये उन्मेष का वर्ष है। चौबीसवें वर्ष में प्रवेश के साथ-साथ मुझे संस्कृत, प्राकृत और दर्शनशास्त्र के अनेक ग्रन्थों के अध्ययन का सहज अवसर मिला। उसी वर्ष मैंने हिन्दी में लिखना शुरू किया। मैं संस्कृत से एक साथ हिन्दी में आया, इसलिए उस समय की मेरी हिन्दी संस्कृतनिष्ठ ही रही, फिर भी हिन्दी में लिखना मुझे

अच्छा लगा। कुछ मुनियों का आग्रह था कि मैं 'पचीस बोल' की हिन्दी में व्याख्या लिखूं। मेरे मन में संकोच था। हिन्दी में मैंने कभी कुछ लिखा नहीं था। जो कुछ लिखना होता, वह सारा संस्कृत में ही लिखता। कभी-कभी प्राकृत में भी लिखता। ये दोनों पुरानी भाषाएं हैं। लोग इन्हें मृतभाषा कहते हैं। अतीत जीवित कैसे होगा? वह मृत ही होगा। जीवित केवल वर्तमान होता है। मैं मानता हूं, इसीलिए मैंने हिन्दी को अपनाया। वह आज की भाषा है, इसलिए जीवित है। मैं भाषा के साथ-साथ दर्शन का विद्यार्थी रहा हूं। वह मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। उसको मैंने अनेकान्त के आलोक में पढ़ा है। अनेकान्त का विद्यार्थी किसी को सर्वथा जीवित अथवा सर्वथा मृत कैसे मान सकता है? अतीत में वर्तमान को जीवन देने की क्षमता है, तब उसे मृत ही कैसे मान सकते हैं? मैंने वर्तमान के साथ संपर्क स्थापित किया, पर अतीत के साथ स्थापित संपर्क को कभी कम नहीं किया। दोनों में संतुलन बना रहा। मैंने हिंदी में 'पचीस बोल' की व्याख्या लिखी और वह ग्रन्थ 'जीव-अजीव' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह मेरी पहली रचना थी हिन्दी के क्षेत्र में और दर्शन के क्षेत्र में भी।

अहिंसा

प्रो. हीरालाल रसिकदास कापड़िया अहिंसा के बारे में एक ग्रन्थ का संकलन कर रहे थे। उन्होंने गुरुदेव के पास एक प्रस्ताव भेजा—आचार्य भिक्षु के अहिंसा संबंधी विचारों को उस ग्रन्थ में मैं देना चाहता हूं। मुझे हिन्दी में उनके विचारों का एक संकलन उपलब्ध कराएं। गुरुदेव उस समय चाड़वास (चूरू, राजस्थान) में विराज रहे थे। उन्होंने मुझे बुलाकर पूछा—'क्या तुम हिन्दी में निबंध लिख सकते हो?' मैंने कहा—'लिख सकता हूं।' गुरुदेव ने कहा—'अहिंसा के संबंध में आचार्य भिक्षु के विचारों पर एक निबन्ध लिखो।' मैंने गुरुदेव के आदेश को शिरोधार्य किया और कार्य प्रारंभ कर दिया। कार्य की तात्कालिक क्रियान्विति में मेरा विश्वास रहा है, इसलिए किसी भी कार्य को अधर में लटकाए रखना मेरी प्रकृति में नहीं था। निबन्ध लिखने का कार्य शीघ्र सम्पन्न हो गया। यह 'अहिंसा' शीर्षक से एक लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित

६० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

हुआ। अहिंसा के संबंध में आचार्य भिक्षु के विचार बहुत मौलिक हैं। शुद्ध साध्य की सिद्धि के लिए शुद्ध साधन का होना जरूरी है। इस सिद्धान्त पर आचार्य भिक्षु ने बहुत बल दिया। मेरा अभिमत है कि इस सिद्धान्त पर बल देने वाले और इस पर तार्किक पद्धति से विश्लेषण करने वाले भारतीय मनीषियों में आचार्य भिक्षु का स्थान अग्रणी है। महात्मा गांधी भी इस क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं। 'अहिंसा' पुस्तिका उनके पास पहुंची। उन्होंने उस पर कई टिप्पणियां भी लिखीं और आचार्य भिक्षु के बारे में उनके मन में एक जिज्ञासा भी जागी।

भाष्यकार

उन दिनों हमारे धर्म-संघ को प्रबुद्ध लोग रूढ़िवादी मानते थे। दूसरे सम्प्रदाय के लोग कुछ सैद्धान्तिक प्रश्न उपस्थित कर तेरापंथ को व्यवहार को विघटित करने वाला बतलाते थे। इस स्थिति में हम एक वैचारिक अवरोध का अनुभव कर रहे थे। गुरुदेव के मन में उस अवरोध को मिटाने की तड़प जागी। उन्होंने आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों को दर्शन की भाषा और शैली में प्रस्तुत करना शुरू किया। मुझे प्रारंभ से ही यह सौभाग्य मिला है कि मैं उनकी हर कृति में उनके साथ रहा। जयाचार्य को आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला तो मुझे आचार्य तुलसी का भाष्यकार होने का सौभाग्य मिला और साथ-साथ आचार्य भिक्षु का भाष्यकार होने का सौभाग्य भी मुझे उपलब्ध हुआ।

गुरुदेव ने 'जैन सिद्धान्त दीपिका' नामक एक संस्कृत ग्रन्थ लिखा। उसके एक अध्याय में आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। दर्शन के स्तर पर सूत्र की शैली में आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने का यह पहला प्रयत्न था। एक दिन डॉ. सतकोड़ि मुखर्जी को मैंने वह अध्याय सुनाया। उसे सुनकर डॉ. मुखर्जी ने कहा—यह बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इतने दिन प्रकाश में क्यों नहीं आया? खेद है, आचार्य भिक्षु मारवाड़ में जन्मे। यदि वे जर्मनी में जन्मे होते तो उनका महत्त्व इम्युअल कान्ट से कम नहीं होता। डॉ. मुखर्जी के विचारों से मुझे एक सन्तोष का अनुभव हुआ। आचार्य भिक्षु के जिस दृष्टिकोण को आचार्यश्री तुलसी दार्शनिक शैली में प्रस्तुत कर रहे हैं और मैं जिसका

भाष्य कर रहा हूँ, वह दृष्टिकोण सारयुक्त और वर्तमान की समस्या को समाधान देने वाला है। प्रारंभ से ही मेरी यह दृष्टि रही कि जो दर्शन या धर्म वर्तमान समस्या का समाधान नहीं देता, वह उपयोगी नहीं हो सकता और जो उपयोगी नहीं हो सकता, वह चिरजीवी नहीं हो सकता। बासी चीज की उपयोगिता कम होती जाती है और एक दिन वह फेंक दी जाती है।

उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार

आचार्य भिक्षु ने एक सूत्र दिया था—बड़े जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों को मारना अहिंसा नहीं है। छोटे जीवों को मारकर बड़े जीवों का पोषण करना अहिंसा नहीं है। इस सूत्र ने मुझे बहुत आन्दोलित किया। मैंने मार्क्स और लेनिन के साहित्य को देखा। सामाजिक शोषण और असमर्थ लोगों के प्रति होने वाली क्रूरता के प्रति एक विशेष संवेदना जाग उठी। दान के नाम पर चलने वाले छद्म के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण निर्मित हुआ। मैंने एक लघु पुस्तिका लिखी। उसका शीर्षक था—‘उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार।’ इस पुस्तिका पर कुछ जैन पत्रों ने टिप्पणी की—‘मुनि नथमलजी साम्यवादी हो गए हैं।’ राजनीतिक प्रणाली के अर्थ में मैं साम्यवादी नहीं बना, पर मार्क्स की विचारधारा के प्रति मेरा झुकाव निश्चित ही रहा। अच्छे साध्य के लिए अशुद्ध साधन को काम में लाया जा सकता है—इस साम्यवादी सिद्धान्त के साथ मैं कभी सहमत नहीं हो सका। आचार्य भिक्षु के ‘शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन’ की अमिट छाप मेरे मन पर अंकित थी। उन दिनों गांधीजी के विचार बहुत चर्चित हो रहे थे। वे भी शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधन के सिद्धान्त पर बल दे रहे थे। दार्शनिक सन्दर्भ में आचार्य भिक्षु ने और राजनीतिक प्रणालियों के सन्दर्भ में महात्मा गांधी ने इस सिद्धान्त पर जितना बल दिया, उतना शायद कम विचारकों ने दिया। इसीलिए हरिभाऊ उपाध्याय कहा करते थे—‘अध्यात्म और राजनीति की पृष्ठभूमि को अलग रखने पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के अहिंसा संबंधी विचार में मुझे कोई अन्तर नहीं लगता।’ आचार्य भिक्षु को पढ़ने के पश्चात् मैंने महात्मा गांधी को पढ़ा। अहिंसा के विषय में

६२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

दोनों के विचारों में अद्भुत समानता पायी। अहिंसा मेरा प्रिय विषय बन गया और वर्षों तक मैं इसी विषय पर लिखता रहा और जीवन में प्रयोग भी करता रहा।

अहिंसा के बीज

आचार्यश्री तुलसी का चातुर्मासिक प्रवास (वि. सं. २०११) बम्बई में हुआ। परमानन्द कापड़िया ने तेरापंथ की अहिंसा विषयक दृष्टि पर एक समीक्षा लिखी। उसमें छिछली आलोचना नहीं थी। आलोचना का स्तर अच्छा था। इससे पूर्व तेरापंथ के अहिंसा विषयक सिद्धान्त की इस स्तर की आलोचना नहीं निकली थी। लेख गुजराती भाषा में था। उसका शीर्षक था—‘अहिंसा की अधूरी समझ।’ आचार्यश्री तुलसी ने वह लेख पढ़ा और मुझे बुलाकर कहा—‘अब तक हमने आलोचना का प्रत्युत्तर नहीं दिया। पहली बार यह स्तर की आलोचना निकली है, जिसमें गाली-गलौज नहीं किन्तु एक चिन्तन है। अब हमें इसका प्रत्युत्तर देना चाहिए। तुम एक लेख लिखो।’ मैंने उस पर ‘अहिंसा की सही समझ’ शीर्षक एक लेख लिखा। श्रीचन्द्रजी रामपुरिया ने कापड़िया का और मेरा—दोनों लेख ‘जैन भारती’ पत्र में एक साथ छापे। कापड़िया ने ‘प्रबुद्ध जीवन’ में लिखा—‘मेरे लेख में कहीं-कहीं व्यंग्य भी है, कटूक्तियां भी हैं, किन्तु मुनिश्री नथमलजी ने जो लेख लिखा है, उसमें केवल समीक्षा है, न कोई व्यंग और न कोई कटूक्ति।’ इससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। यदि मेरे मन में अहिंसा के बीज अंकुरित नहीं होते तो मैं व्यंग्य और कटूक्ति से शायद नहीं बच पाता।

यथार्थ की प्रस्तुति

मैं जैन मुनि बना। जैन दर्शन मेरे अध्ययन का विषय बना। फिर भी इस स्वीकृति को मैं अवश्य मानता हूँ कि गांधी साहित्य से मुझे जैन धर्म को आधुनिक संदर्भ में पढ़ने की प्रेरणा मिली। मैंने एक पुस्तक लिखी। उसका नाम था—‘आंखें खोलो।’ उसके पांच अध्याय थे। उसमें एक अध्याय था—जातिवाद। आचार्यश्री तुलसी ने उसे देखकर कहा—यह पुस्तक बाहर जाएगी तो समाज में इससे बहुत चर्चा होगी। अभी इसे रहने दो। फिर दो क्षण के चिन्तन के बाद कहा—यह वास्तविकता है।

जैन धर्म में जातिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर चर्चा से क्यों डरना चाहिए? पुस्तक सामने आ गई। कुछ ऊहापोह हुआ। साथ-साथ यथार्थ को प्रस्तुत करने का मुझे संतोष भी मिला।

व्यापक दृष्टि

गांधी साहित्य के माध्यम से मैंने रस्किन और टालस्टाय को पढ़ा तो मुझे और अधिक व्यापक सन्दर्भ में चिन्तन करने का अवसर मिला। आचार्य भिक्षु ने सम्प्रदायातीत धर्म की नींव को बहुत मजबूत किया था। उन्होंने इस पर बहुत बल दिया कि धर्म मुख्य है, सम्प्रदाय गौण। यही सूत्र अणुव्रत के प्रवर्तन का आधार बना। गुरुदेव ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया, तब उसकी समीक्षा इन स्वरो में हुई—आचार्यश्री तुलसी जैन और अजैन—सभी को एक पंक्ति में ला रहे हैं। यदि आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण का सुदृढ़ आधार उपलब्ध नहीं होता तो काफी समस्याएं सामने आतीं पर उस उदार दृष्टि ने सामने आने वाली हर समस्या को चिरजीवी नहीं बनने दिया।

मौलिक विचार

अणुव्रत आन्दोलन को दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत करने का अवसर मिला। उससे मैं बहुत लाभान्वित हुआ। अतीत के चिन्तन को वर्तमान की समस्याओं के संदर्भ में देखने की एक दृष्टि मिली और कुछ मौलिक विचार प्रस्थापित हुए। धर्म के विषय में यह प्रसिद्ध धारणा है—धर्म करो, परलोक सुधर जाएगा। धार्मिकों को वर्तमान की कोई चिन्ता नहीं, केवल परलोक को सुधारने की चिन्ता है। धार्मिक व्यक्ति उपासना में विश्वास करता है, चरित्र में विश्वास कम करता है। नैतिकता का आचरण आवश्यक नहीं माना जाता। नैतिकताविहीन धर्म भी चलता है। अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से बहुत सारे प्रबुद्ध विचारक व्यक्ति संपर्क में आए और पारस्परिक आदान-प्रदान में कालातीत और सामयिक—दोनों प्रकार की सचाइयों को समझने का अवसर मिला। अणुव्रत के मंच पर सभी धर्मों और विचारधाराओं के लोग आने लगे और सभी को सुनने का अवसर मिलता गया। उससे समन्वय की दृष्टि को बहुत बड़ा बल मिला। मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा। जैन दर्शन को पढ़ा। साथ-साथ अन्य

६४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

दर्शन भी पढ़े। अनेकान्त को पढ़ने के कारण अन्य दर्शनों के प्रति अन्यत्व का भाव नहीं रहा। सत्य-सत्य है, फिर उसे किसी भी दर्शन ने अभिव्यक्त किया हो। यही दृष्टि निष्पन्न हुई। अब मेरे सामने दर्शन दर्शन है, सत्य सत्य है, और सब भेद गौण हैं।

ध्यान की दिशा में

एक बार मुझे प्रतिश्याय हुआ और वह बिगड़ गया। एलोपैथी और आयुर्वेदिक इलाज कराए पर कोई लाभ नहीं हुआ। स्थिति चिन्तनीय बन गई। फिर प्राकृतिक चिकित्सा का योग मिला। मैं स्वस्थ हो गया। एक प्रेरणा जागी। लूई पूने को पढ़ा, और भी प्राकृत चिकित्सा की बीसों पुस्तकें पढ़ीं। वहीं से मेरे योग, जीवन का प्रारंभ हुआ। आसन और प्राणायाम के साथ-साथ ध्यान की रुचि जागृत हुई। मैंने ध्वनि चिकित्सा का भी प्रयोग किया। उदात्त स्वर में बीज-मंत्रों की ध्वनि करने पर मैं कुछ हास्यास्पद भी बनता रहा, फिर भी कोई अन्तःप्रेरणा काम कर रही थी। मैं उस प्रयत्न को नहीं छोड़ सका। गुरुदेव की मुझ पर अनन्त करुणा रही। मैं जो काम करता, उसमें उनका अनुमोदन और प्रोत्साहन मिल जाता। गुरुदेव ने स्वयं प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग किया। आसन, प्राणायाम और ध्यान के प्रयोगों का भी उन्होंने सर्वात्मना समर्थन किया। धीरे-धीरे उन सबकी जड़ें हमारे संघ में गहरी होती चली गईं।

करुणा की धारा

मैं इसे निसर्ग ही मानता हूँ कि मेरे मन में क्रूरता की अपेक्षा करुणा अधिक प्रवाहित है। कोई भी व्यक्ति अपने में क्रूरता न होने का दावा नहीं कर सकता। करुणा और क्रूरता—दोनों धाराएं हर व्यक्ति में प्रवाहित होती रहती हैं—कोई बड़ी और कोई छोटी। असमर्थ वर्ग के प्रति समर्थ वर्ग के अतिक्रमणों की चर्चा जब-जब सुनता हूँ, तब-तब मन करुणा से भर जाता है। हमारी दुनिया के इतिहास में एक बहुत बड़ा भाग अन्याय के इतिहास का है, यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। रोटी, वस्त्र आदि पदार्थ संबंधी कठिनाइयों को हल करने में

भी मनुष्य सफल नहीं हो रहा है, तब अन्यान्य की कठिनाइयों को हल करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। क्या यह सरल हो सकता है? यह प्रश्न आज भी मेरे लिए प्रश्न ही बना हुआ है।

साहित्य जगत् से संपर्क

साहित्यिक रुचि प्रारंभ से थी। संस्कृत में कविताएं, कहानियां लिखना चलता ही था। फिर हिन्दी में कविताएं लिखनी शुरू कीं। निबन्ध भी लिखे। तब हिन्दी जगत् के साहित्यकारों से संपर्क बढ़ने लगा। जैनेन्द्रकुमार, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सियारामशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर', कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदि साहित्यकारों से संपर्क हुआ। केवल संपर्क ही नहीं हुआ, आत्मीय भाव भी बना। फिर भी मन में एक असंतोष उभरता रहता था। वह बार-बार अन्तःकरण को कचोटता रहता था। क्या विचार ही अंतिम यात्रा है? क्या साहित्य-साधना ही अंतिम यात्रा है? क्या इससे आगे और कुछ नहीं है? आधुनिक युग का व्यक्ति होने के लिए आधुनिक ढंग से सोचना, आधुनिक भाव-भाषा और शैली में लिखना पर्याप्त है पर आधुनिकता पूर्ण सत्य तो नहीं है। वह एक सामयिक सत्य है। पूर्ण सत्य त्रैकालिक होता है, केवल सामयिक नहीं होता।

विश्वास शाश्वत में

एक बार हम लोग प्रभुदयाल डाबड़ीवाला के घर पर ठहरे हुए थे। सूर्यास्त होने को था। डॉ. राममनोहर लोहिया वहां आए। कुछ समय हम लोग बात करते रहे। सूर्यास्त हो गया। डॉ. लोहिया ने उठते हुए कहा—चलें, हम भोजन करें। मैंने कहा—सूर्यास्त हो गया। अब भोजन नहीं कर सकते। वे बोले—आप आधुनिक मुनि हैं, फिर यह कैसा प्रतिबन्ध? मैंने इसका प्रतिवाद किया—'मैं आधुनिकता में विश्वास नहीं करता, शाश्वत में विश्वास करता हूं। जो शाश्वत में विश्वास करता है, उसका विश्वास आधुनिकता में होगा ही, पर केवल आधुनिकता में नहीं होगा। मैं मुनित्व को प्रत्यक्ष ज्ञान की साधना मानता हूं। वह त्रैकालिक के बोध से ही संभव हो सकती है। केवल आधुनिकता हमें बहुत दूर

६६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

तक नहीं ले जा सकती' ।

जीवन-व्रत

आचार्यश्री तुलसी के अत्यन्त निकट साहचर्य में मैं रहा। राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ता, साहित्यकार, पत्रकार आदि सभी प्रकार के लोगों से विचार-विनिमय करने का अवसर मिला। धर्म में अति श्रद्धा रखने वाले और धर्म को अस्वीकार करने वाले, दोनों प्रकार के लोगों से संपर्क होता रहा, पर मैंने उनमें से बहुत लोगों को तनाव की मनःस्थिति में पाया। मुझे लगा, तनाव वर्तमान की सबसे बड़ी समस्या है। जो गलत निर्णय होते हैं, वे सब तनाव की मनःस्थिति में होते हैं, इसलिए वर्तमान में मानव जाति को तनाव-मुक्ति का मार्ग बतलाना उसकी सबसे बड़ी सेवा है। मैंने इसे अपना जीवन-व्रत बनाया। मुनि अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए जीवन की यात्रा शुरू करता है, किन्तु अपनी समस्याएं केवल अपनी ही नहीं होतीं, वे दूसरों की भी होती हैं। दूसरों की समस्याएं केवल दूसरों की ही नहीं होतीं, वे अपनी भी होती हैं। अपने और दूसरों के बीच में कोई ऐसा लोहावरण नहीं है जिससे एक की समस्या दूसरे में संक्रान्त न हो। इसलिए समस्या के समाधान का मार्ग सबके लिए सुलभ होता है, इसे मैं श्रेय मानता हूँ। मेरी दृष्टि में यह जीवन का सबसे बड़ा सृजनात्मक प्रश्न है। शायद रोटी की उपलब्धि से भी इसका अधिक मूल्य है।*

* युवाचार्य बनने के बाद महाप्रज्ञ द्वारा अतीत का विहंगावलोकन।

१४. प्रज्ञा को भीतर ही रहने दें

मैं संसार के इस नियम को नहीं जानता कि जो सदा उलटा चलता है। जो व्यक्ति निर्विशेषण की ओर जाना चाहता है, सब विशेषणों को नीचे रखकर खुद ऊपर उठना चाहता है, जो सब उपाधियों को नीचे छोड़कर ऊपर जाना चाहता है, और पता नहीं, जगत् का नियम क्या है कि उसे फिर से नीचे लाने का प्रयत्न किया जाता है। भगवान् महावीर ने कहा—कर्म से सारी उपाधियां होती हैं और अहं के साथ सारी उपाधियां जुड़ती हैं। मैं जानता हूँ—पूज्य गुरुदेव का आशीर्वाद मुझे मिला है और आज से नहीं तब से मिला, जब से मैं इस धर्मसंघ में दीक्षित हुआ। दीक्षित होने के बाद प्रथम अक्षर-बोध पूज्य गुरुदेव के द्वारा मुझे प्राप्त हुआ। मुझे दीक्षा लिये हुए ४८ वर्ष हो गए। मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ कि निरंतर गुरुदेव के निकट रहा। ऐसा योग बहुत कम व्यक्तियों को मिलता है और वह भी इतना निकट से मिला कि न गुरुदेव मुझमें भेद कर अनुभव करते हैं और न मैं आपमें भेद का अनुभव करता हूँ। पूज्य गुरुदेव कभी नहीं कहते कि 'मैंने कुछ किया है। मैं पास में बैठा होता हूँ। मुझे पता ही नहीं चलता कि मैं भी कुछ करने वाला हूँ। सचमुच है नहीं। जहां 'हम' का ही प्रयोग होता है, वयं की भाषा होती है, वहां अहं, मैं—यह प्रथम पुरुष की भाषा नहीं होती।

प्रज्ञा का महत्त्व

मैं मानता हूँ कि प्रज्ञा का बहुत महत्त्व है। महर्षि पतंजलि ने पातंजल योग दर्शन में प्रज्ञा की परिभाषा की है—जिससे सत्य का साक्षात् होता है, उसका नाम है प्रज्ञा। वास्तव में धर्म को देखा जाता

६८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

है, तर्क से नहीं समझा जाता और धर्म वह तत्त्व ही नहीं, जो तर्क से समझा जा सके। इन्द्रियों का स्तर, मन का स्तर, बुद्धि का स्तर—ये सब नीचे रह जाते हैं। धर्म का स्रोत है, इन सबसे परे। यानी इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे। जो बुद्धि से भी परे का स्तर है, भाव चेतना का स्तर है, वहां धर्म का साक्षात्कार होता है।

प्रत्यक्ष अनुभव की आकांक्षा

मेरे मन का एक स्वप्न था। बहुत पुराना स्वप्न। मैंने गुरुदेव से एक प्रार्थना की थी। बहुत पहले की थी। अभी मैं संघीय सेवाओं में लगा हूं। जब मैं पैंतालीस वर्ष का होऊं, तब मुझे इन सबसे मुक्त कर दिया जाए और मैं केवल प्रज्ञा की साधना करना चाहता हूं, साक्षात्कार के लिए समर्पित होना चाहता हूं। मैं यह नहीं चाहता कि हम सब परोक्ष ज्ञानी ही रहें और यह दोहराते रहें कि शास्त्रों में ऐसा लिखा है, शास्त्रों में वैसा लिखा है। किन्तु आज इस बात की अपेक्षा है कि हम स्वयं जानें और यह कह सकें कि हमने इसका अनुभव किया है और अपने अनुभव के आधार पर यह बात कह रहा हूं। केवल परोक्ष की दुहाइयां न दी जाएं, शास्त्र की रटन ही न चले किन्तु स्वयं अनुभव करें और जो अनुभवकर्ता थे, उनके साथ साक्षात् संपर्क स्थापित करें। मैंने प्रार्थना की। मेरा ४५वां वर्ष कहीं चला गया। पता नहीं कब चला गया। मैंने एक पुस्तक लिखी—मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति। उसमें सबसे पहले मैंने अपना परिचय दिया कि मैं मुनि हूं और वह मुनि नहीं, जो शास्त्रों के साथ-साथ ही चलूं। शास्त्रों को बहुत महत्त्व देता हूं। आप लोग यह न समझें कि शास्त्रों का मूल्य नहीं मानता हूं। बहुत मानता हूं किन्तु शास्त्रों की अवज्ञा करना नहीं चाहता। शास्त्र का निर्देश है कि स्वयं जानो। स्वयं सत्य की खोज करो और हम स्वयं सत्य की खोज न करें, केवल परोक्षवादी ही बने रहें तो यह शास्त्र के प्रति बहुत समादर नहीं होगा।

लक्ष्य है साक्षात्कार

मेरे मन की प्रबल इच्छा है कि मैं स्वयं अनुभव करूं, प्रत्यक्ष द्रष्टा वनूं।

पैंतालीस वर्ष चले गए। मैंने गुरुदेव से फिर प्रार्थना की—मैं जब पचास वर्ष का होऊँ तब मैं इस कार्य में पूर्णतः लग जाऊँ। मेरा पचासवाँ वर्ष भी चला गया। एक मेरी दुर्बलता है कि मैं किसी से भी नहीं डरता, और किसी भी व्यक्ति की बात जंचे तो स्वीकार करता हूँ। मेरे लिए जरूरी नहीं कि मैं स्वीकार करूँ। किन्तु दुर्बलता एक है। बस एक सूत्र ऐसा है कि मन की प्रबल भावनाएं लेकर जाऊँ कि मैं तो ऐसा करूँगा ही। किन्तु जब गुरुदेव कह देते हैं कि नहीं, तो वह बात समाप्त हो जाती है, पूर्ण विराम लग जाता है। कोई जन्मजात संस्कार है कि जिसकी व्याख्या शायद गुरुदेव भी नहीं कर सकते और मैं भी नहीं कर सकता।

पचास वर्ष भी बीत गए। मैंने फिर लिखित प्रार्थना की—पचपन वर्ष होने के पश्चात् संघीय कार्यों से मुक्त हो जाऊँ। पचपन भी चला गया। पर एक बात मैं मानता हूँ कि गत वर्ष मैंने गुरुदेव से प्रार्थना की—अभी लाडनूँ रहना है। काफी लम्बा समय है। मुझे नौ महीने का समय दिया जाए, जिसमें मैं कुछ विशेष प्रयोग कर सकूँ। गुरुदेव से सोच-समझकर स्वीकृति दी। मैंने अपना प्रयोग शुरू किया और वह मेरे लिए बहुत ही लाभकारी सिद्ध हुआ। मेरी दिशाओं का उद्घाटन हुआ और मुझे आगे बढ़ने का मौका मिला। जहाँ मैं पहुंचना चाहता हूँ, मुझे लगता है कि गुरुदेव का आशीर्वाद मेरे साथ है और मैं निश्चित ही पहुंच जाऊँगा। मेरा एकमात्र लक्ष्य है प्रत्यक्ष दर्शन, साक्षात्कार। परोक्ष के प्रति मेरा बहुत आकर्षण नहीं है और इसीलिए कभी-कभी लोग मुझे नास्तिक कह देते हैं, साम्यवादी कह देते हैं, उनका कोई दोष नहीं है।

मुझे एक छोटी-सी कहानी याद आ रही है। पिता, भ्राता, माता—सारा परिवार अंधा था। एक बेटा केवल देखने वाला था। अब जो देखने वाला था, वह कहता है—सूर्य कितना सुन्दर है, आकाश कितना सुहावना है, चांद कितना सुहावना है। बाप बोलता है कि लड़का पागल हो गया है। कितनी झूठी-झूठी बातें करता है। कहां है चांद, कहां है सूर्य, कहां है आकाश। सब उसे पागल कहने लगे। झगड़ा बढ़ गया। एक वैद्य आया। बाप ने कहा—सब कुछ ठीक है। हम सब स्वस्थ हैं। किन्तु एक बेटा पागल हो गया है। उसका इलाज करें। वैद्य ने

१०० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

कहा—क्या इलाज करूं? बाप ने कहा—बेटा दिन भर झूठी-झूठी बातें करता, है, बकवास करता है। यह दीखता है, वह दीखता है। बहुत झूठी बातें करता है। वैद्य ने कहा—दवा दूं। बाप ने कहा—और कोई दवा मत दीजिए, केवल इसकी आंखें फोड़ दीजिए। इसके अलावा इसकी कोई दवा नहीं है।

प्रज्ञा का अन्तर्गमन

जो व्यक्ति सत्य को देखता है, सत्य का साक्षात्कार करता है, उसे सचमुच यह पुरस्कार मिलता है कि आंखें फोड़ दी जाएं। इन सब स्थितियों को मैं सहन कर लेता हूं, सहन करना जानता हूं। कोई कठिनाई नहीं है।

गुरुदेव! मैं आपके सब अनुग्रहों को स्वीकार करता आया हूं, आज तक करता आया हूं और एक छोटे बच्चे की तरह स्वीकार करता आया हूं मेरी एक प्रार्थना आप भी स्वीकार करें कि जो व्यक्ति निर्विशेषण और निरुपाधिक सत्ता की ओर आगे बढ़ना चाहता है, उसके लिए क्षमा करें और यह विशेषण की बात को आप स्वयं मुक्त कर दें। प्रज्ञा तो बढ़ाएं। मैं बहुत अच्छा मानता हूं कि मेरी प्रज्ञा और आगे बढ़े, उसमें निरंतर आपका आशीर्वाद और वरदान मुझे उपलब्ध होता रहे। किन्तु यह विशेषण वाली बात बहुत अटपटी है। मेरी प्रज्ञा को मेरे भीतर ही रहने दें। निकाल कर उसे बाहर न फेंकें।*

* महाप्रज्ञ अलंकरण के अवसर पर दिया गया वक्तव्य।

१५. अभिवंदना किसकी?

रथयात्रा निकल रही थी। लोग अष्टांग दण्डवत् कर रहे थे। सड़क पर नारों से अष्टांग वंदनाएं हो रही थीं। जो रथ था, जिसमें मूर्ति थी, उसने सोचा, मैं देवता हूं और सब लोग मुझे वंदना कर रहे हैं। लोग पथ पर लेट रहे थे। वंदना कर रहे थे, गिर रहे थे तो रथ ने सोचा, मैं देवता हूं, लोग मुझे वंदना कर रहे हैं और जो भीतर मूर्ति थी, वह सोच रही थी कि लोग मुझे वंदना कर रहे हैं। सबसे ऊपर बैठा अन्तर्यामी हंस रहा था।

अभी अभिवंदना हो रही थी। कोई कुछ रहा था, कोई कुछ कह रहा था। शायद यह स्टेज का पत्थर सोचता होगा कि मेरी अभिवंदना हो रही है। यह कंबल सोचता होगा कि मेरी अभिवंदना हो रही है। ये कपड़े सोचते होंगे कि हमारी अभिवंदना हो रही है और अन्तर्यामी पूज्य गुरुदेव ऊपर मंच पर बैठा-बैठा हंस रहा है। किसकी अभिवंदना!

मैं मानता हूं कि यदि कोई प्रशंसा करे, अभिवंदना करे तो शायद मुझ तक पहुंचता ही नहीं। कोई भी आदमी घर में प्रवेश करता है। अन्दर आएगा तो द्वार से जाएगा। पहुंचना तो वहां तक है, जहां अन्तर्यामी बैठा है। शरीर प्रेक्षा के द्वारा उस अन्तर्यामी तक पहुंचना होगा। मैंने मान लिया कि जिस अन्तर्यामी तक पहुंचना है, लोग सीधे नहीं पहुंच पाते हैं तो पहले दरवाजे में घुसकर ही भीतर पहुंच पाएंगे। अच्छा है कि दरवाजा मैं ही बन जाऊं। मुझे भला क्या आपत्ति होगी? जहां तक पहुंचना है, वहां पहुंचेंगे। मैं दरवाजा बन सकता हूं।

उसे मिलता है सत्य

एक शिष्य गुरु के पास आया और बोला—गुरुदेव! जीवन की एक

१०२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

प्रबलतम आकांक्षा है। गुरु ने पूछा, क्या आकांक्षा है? शिष्य ने कहा कि सत्य की उपलब्धि के सिवा मेरे जीवन की और कोई आकांक्षा नहीं है। मैं सत्य की उपलब्धि करना चाहता हूँ। केवल सत्य को उपलब्ध होना चाहता हूँ। गुरु ने पूछा—कलकत्ता में चावल के भाव क्या हैं? शिष्य ने कहा—‘गुरुदेव! मैंने कलकत्ता छोड़ दिया है। अब मुझे चावल के भाव से कुछ भी लेना-देना नहीं है।’ गुरु ने कहा—‘जाओ, तुम साधना करो। सत्य तुम्हें अवश्य उपलब्ध होगा।’ शिष्य ने कहा—‘कैसे उपलब्ध होगा? गुरु ने कहा—‘जो अतीत को छोड़ देता है, वह सत्य को अवश्य उपलब्ध हो जाता है।’

अतीत को विस्मृत कर देना सत्य के लिए बहुत जरूरी है किन्तु अतीत की पकड़ इतनी मजबूत होती है कि छोड़ने पर भी वह कभी-कभी फिर से बांध लेती है। जिस अतीत को मैं भुलाना चाहता हूँ, उस अतीत को ही मेरे सामने उपस्थित कर दिया गया। सारी बचपन की स्मृतियाँ ताजा हो गईं। मुझे याद है—मैं बहुत छोटा बच्चा था। दस वर्ष का था। मेरे मन में दीक्षा का भाव जागा। यह संयोग की बात है कि गंगाशहर से ऐसा ही कोई संबंध जुड़ा हुआ है। सर्व प्रथम दीक्षा का भाव लेकर इसी गंगाशहर में उपस्थित हुआ। मुझे संकेत मिला कि तुम गंगाशहर जाओ तो मुनि तुलसी के दर्शन जरूर करना। मैं गया और दर्शन किए। पता नहीं पूर्व जन्म के संस्कार थे। आपने पूछा—कौन हो, कहां से आए हो? मैंने बताया किन्तु बोला विशेष नहीं और आपने कुछ विशेष पूछा भी नहीं। किन्तु जो एक तादात्म्य जुड़ना चाहिए था, वह वहां से ही जुड़ गया। ऐसा सम्बन्ध हुआ कि शायद जिसकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती।

अमाप्य वात्सल्य

दीक्षित होते ही पूज्य कालूगणी ने आपके पास भेज दिया। मैं छोटा था, आप भी बहुत बड़े नहीं थे। केवल छह, साढ़े छह साल का अन्तर। किन्तु आपका इतना कठोर अनुशासन कि मन ही मन में थोड़ा कंपन-सा हो गया। किन्तु बहुत नहीं अखरा। इसलिए नहीं अखरा कि जितना कठोर अनुशासन था, उससे भी अनुपात में ज्यादा प्रेम का सागर

लहलहाता था। इतना प्रेम, इतना वात्सल्य कि आप लोगों को क्या बताऊं?

मुझे दीक्षा लिये छह-सात वर्ष हो गए। पूज्य कालूगणी का स्वर्गवास हुआ और मुनि तुलसी आचार्य तुलसी बन गए। सबको अच्छा लगा किन्तु मुझे उतना अच्छा नहीं लगा। मैंने सोचा कि यह क्या? जीवन में व्यवधान खड़ा हो गया। भोजन सदैव साथ में करते थे। कई दिनों तक मैं भोजन नहीं कर सका। जाता, पूज्य गुरुदेव पूछते—भोजन कर आए? मैं कहता—नहीं किया, तो कहते अब तो अलग भोजन करना ही होगा। मेरे साथ कैसे करोगे? कभी मुनि सुखलालजी को भेजते, कभी भाईजी महाराज को भेजते कि इसको भोजन करा आओ। मुझे यह पता नहीं कि कब चोलपट्टा साध्वियों को सीने के लिए देना है, कब पछेवड़ी देना है, कब ओढ़ना है, कब पहनना है। मुझे कोई चिन्ता नहीं। बस, सब कुछ यंत्रवत् चल रहा था। बस, आप जो कुछ कहते, वही करना है।

तब भगवान् जागता है

मुझे एव घटना याद आ रही है—द्वितीय महायुद्ध चल रहा था। लंदन की एक महिला रात को प्रार्थना करके सो जाती और निश्चित नींद लेती। पड़ोसी कहते—हम लोग तो जागते हैं, डरते हैं, तुम निश्चिन्त सो जाती हो। महिला कहती—मुझे तो कोई चिन्ता नहीं। लोगों ने पूछा—चिन्ता क्यों नहीं? क्या रहस्य है इसका? महिला ने कहा—जब सोती हूँ, तब भगवान् से प्रार्थना करके सोती हूँ कि प्रभो! मेरी रक्षा करना। जब मैं सोती हूँ तब भगवान् जागता है। दोनों के जागने की क्या जरूरत है? वह भी जागे और मैं भी जागूँ? इसकी क्या जरूरत है? सचमुच मेरा भी बचपन का जीवन ऐसे ही बीता। मैंने सोचा, पूज्य कालूगणी और मुनि तुलसी चिन्ता करने वाले हैं तो यह भार मैं क्या ढोऊँ?

निश्चित जीवन

भला जिसके लिए परमात्मा स्वयं जागता हो तो दोनों को कभी एक साथ जागने की जरूरत नहीं। लोग समझते हैं कि मैं भोला था, सीधा

था, बच्चा था। सचमुच यही बात है। किन्तु एक ही बात ने मुझे उबारा कि मैंने कभी अपनी चिन्ता नहीं की और वह व्यक्ति धन्य है, बहुत भाग्यशाली है, जिसकी चिन्ता करने वाले गुरु मिल जाएं? सचमुच वह धन्य होता है। मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे एक ऐसा निर्माता मिला, जो व्यक्ति की सुप्त शक्ति को जगाना जानता है। हर व्यक्ति में शक्ति होती है। शक्ति होना एक बात और शक्ति को जगाने वाला देवता मिला! दूसरी बात है। भाग्यशाली वह नहीं होता, जिसमें शक्तियाँ होती हैं। शक्तियाँ और भी लोगों में हो सकती हैं। मैं सचमुच अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे एक ऐसा देवता मिला, जिसने निरंतर मेरी शक्तियों को जगाने की चिन्ता की। केवल बचपन में ही नहीं, आज तक भी बराबर कर रहा है। जब मैं बच्चा था, तब आप (गुरुदेव) एक बात पर बहुत जोर देते थे। आप कहते, अभी तुम जितने संयत रहोगे और जितना अपने में लीन रहोगे, अध्ययन में लीन रहोगे, उतना ही तुम स्वतंत्र बनोगे और अभी तुमने यदि यह नहीं किया तो जीवन भर परतन्त्रता बनी रहेगी।

मैं बहुत कृतज्ञ हूँ। आप सब लोगों ने जो शुभकामनाएं प्रकट कीं, उन शुभकामनाओं को, शुभाशंसाओं को स्वीकार करता हूँ और जितनी प्रशंसाएं, जितने अभिनन्दन किए, जिनको जहां पहुंचना चाहिए, वहां समर्पित करता हूँ।*

* महाप्रज्ञ अलंकरण के संदर्भ में आयोजित अभिनंदन समारोह में प्रदत्त वक्तव्य।

१६. दीक्षा का प्रयोजन

आज मेरा दीक्षा दिवस है। आज मैं प्रव्रज्या के ४६ वर्ष पूरे कर पचासवें वर्ष में प्रवेश कर रहा हूँ। मैं अल्प वय में दीक्षित हुआ। मैंने दीक्षा क्यों ली—यह मैं बता नहीं सकता। दीक्षा ली, यह तथ्य है। क्यों ली? यह प्रश्न है। आज मैं कह सकता हूँ कि ग्रहण करने के तीन कारण हैं—

अज्ञातं ज्ञातुमिच्छामि,
गूढं कर्तुमनावृतम् ।
अभूतो हि बुभूषामि,
दीक्षा सेयं ममार्हती॥

मैं अज्ञात को ज्ञात करना चाहता था। मैं आवृत को अनावृत करना चाहता था, परदे को हटाना चाहता था और जो नहीं था, वह होना चाहता था।

दीक्षा ग्रहण करने के ये तीन कारण हैं। ये ही तीन कारण होने चाहिए। यदि अज्ञात अज्ञात ही बना रहे, यदि गूढ गूढ ही बना रहे और यदि जो जहाँ है, जिस रेखा पर खड़ा है, वहीं जिन्दगी भर खड़ा रहे तो दीक्षा का कोई अर्थ नहीं होता। मैंने तीनों बातों को यत्-किञ्चित् कार्यरूप में परिणत किया है। मैंने अज्ञात को ज्ञात, आवृत को अनावृत और न होने को होना संभव किया है। यही दीक्षा का प्रयोजन है।

मैं अपनी माता के साथ दीक्षित हुआ और दीक्षा से आते ही पूज्य कालूगणी ने मुझे कहा—जाओ, मुनि तुलसी की देखरेख में सीखो-पढ़ो।

मेरा रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा मुनि तुलसी के पास हुई। उनके अनुशासन में रहना कोई सरल बात नहीं थी। वे बड़े कठोर अनुशासक हैं। आज वे मुझे कहते हैं—तुम बहुत कोमल हो। मैं यह नहीं कह सकता कि आप बहुत

१०६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

कठोर हैं, पर वास्तव में हैं कठोर। आपका कठोर अनुशासन मेरे लिए वरदान बना। बचपन से ही मैंने अपने जीवन के दो सूत्र बनाये थे—

१. मैं वैसा काम कभी नहीं करूंगा, जिससे मुनि तुलसी (आचार्य तुलसी) अप्रसन्न हों।

२. मैं सदा अपने पर अधिक केन्द्रित होऊंगा, दूसरे पर नहीं।

इन दोनों सूत्रों ने मेरा निर्माण किया। मैं दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ता ही गया। मुझे स्मृति में नहीं कि मैंने कभी किसी का अहित सोचा हो—चाहे फिर वह मेरा निकट का हो या दूर का। मैं अपना काम करता रहा। संवत् २०१२ में जब आगम-संपादन का कार्य-भार आया तब मैंने दो सूत्र और बनाये।

१. दिन को मैंने तीन भागों में बांटा—

(क) पहला भाग—आनन्द की आराधना।

(ख) दूसरा भाग—ज्ञान की आराधना।

(ग) तीसरा भाग—शक्ति की आराधना।

दिन के प्रथम भाग में मैं अपना लेखन करता। कभी किसी विषय पर और कभी किसी विषय पर। दिन के दूसरे भाग में मैं आगम-संपादन में जुट जाता। इससे ज्ञान की आराधना होती। रात में मैं ध्यान आदि में संलग्न हो जाता।

यह मेरी शक्ति की आराधना थी। इस प्रकार के विभाग के कारण आनन्द, ज्ञान और शक्ति बढ़ती ही गई। कभी थकान महसूस नहीं हुई। सदा ताजगी बनी रही।

दूसरा सूत्र था—निःशेष की अवधारणा। जब मैं कोई काम करके उठता हूँ तब सोचता हूँ कि अब कुछ भी कार्य शेष नहीं रहा। जो संपन्न होना था, वह हो गया। इस चिंतन ने मुझे उबारा। काम से थकान नहीं आती, काम की चिंता से थकान आती है। काम से तनाव नहीं आता, काम की चिंता से तनाव आता है। निःशेष चिंतन वास्तव में शक्ति संवर्धन का, चिंता मुक्ति का चिंतन है।

आज मैं पूज्यवर कालूगणी को भावांजलि अर्पित करता हूँ जिन्होंने मुझे दीक्षा देकर कृतार्थ बनाया। आज मैं आचार्य तुलसी के प्रति भाव भीना नमन करता हूँ, जिन्होंने मुझे बिन्दु से सिन्दु बना डाला। एक

अबोध बालक को बोध देकर समकक्ष बना डाला।

आज मैं महान् ज्ञानी और विचक्षण मंत्री मुनि को शत-शत प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने मेरे निर्माण में वह सब कुछ किया, जो उन्हें करना था। आज मैं वात्सल्य की प्रतिमूर्ति भाईजी महाराज को भावांजलि प्रस्तुत करता हूँ, जिन्होंने हमारे शिक्षण के अतिरिक्त सारी जिम्मेदारियाँ ओढ़कर हमारा निर्माण किया। इन वर्षों में उनकी करुणा, कृपा और औदार्य गद्गद् करनेवाला था। काश! आज वे होते।

आज मैं मां बालूजी के प्रति नत हूँ, जिन्होंने मेरे निर्माण में प्रतिपल जागरूकता बरती, मुझे संयमाभिमुख और आचार्याभिमुख रहने की सतत प्रेरणा देती रहीं।

इन सबसे मैं उपकृत हुआ हूँ। और भी अनेक प्रेरक तत्त्व जीवन में रहे हैं, उन सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

लोग मुझसे पूछते हैं—मैं क्या हूँ? मैं कौन हूँ? इसका सहज समाधान यह है—

१. मार्गातीतं गन्तुमिच्छामि शश्वत्,
देशातीतं द्रष्टुमिच्छामि कामम्।
भावातीतं ज्ञातुमिच्छामि नित्यं,
शब्दातीतो येन भूयासमाशु॥
२. संकल्पशक्तिः प्रबला मम स्यात्,
एकाग्रता मे शिखरं प्रयाता।
विनिर्मलं चित्तमिदं विधातुं,
चित्ते प्रसिद्धे सकलं प्रसिद्धम्॥
३. श्वासं विजानामि मनोभिजाने, जानामि देहं वचनं च जाने।
जानामि वर्णान् कथमस्मि विद्वान्, सत्यानुसंधानपरोहमस्मि॥
दिशं विजानामि ऋतां प्रशस्तां, मार्गं विजानामि ऋजुं प्रशस्तम्।
दृष्टिं विजानामि विलोकनाहो, द्रष्टास्मि संदर्शनतत्परोहम्॥
निष्ठानुशास्तेः सहजोपलब्धा, लब्धं तथैक्यं सहजं मया हि।
अणुव्रत-ध्यानपरंपरा च, नवोविकासोजनि तस्य शिष्यः॥*

* पचासवें दीक्षा वर्ष प्रवेश पर प्रदत्त वक्तव्य

१७. वरदान

आज मैं चालीसवें वर्ष में हूँ। कभी एक क्षण का था। क्षणों ने मिल घड़ी का बनाया, घड़ियों ने पहर का, पहरों ने दिन का, दिनों ने महीनों का, महीनों ने वर्ष का। एक पर एक वर्ष आते गए। आज चालीसवां वर्ष आ खड़ा हुआ है। समय की सुई सदा घूमती है, ब्रह्म कभी नहीं रुकती।

मनुष्य अज्ञात-प्रदेश से आता है और अज्ञात-प्रदेश में चला जाता है। मध्य का विराम ज्ञात होता है। उसमें कितने ही अज्ञात संबंध जुड़ जाते हैं।

अंतरात्मा का कथन

मैंने एक छोटे-से कस्बे में जन्म लिया। जन्म के समय मनुष्य क्या जानता है, यह हम लोग, जो बड़े हो गए हैं, नहीं जान पाते। जन्म क्यों होता है? यह प्रश्न उस समय नहीं होता। यह प्रश्न तब उठता है, जब जीवन की दूसरी मंजिल की ओर हमारे चरण बढ़ चलते हैं। वह दूसरी मंजिल है— मृत्यु। मृत्यु की मीमांसा भी मृत्यु के परिपार्श्व में उग्र बन जाती है। ये दोनों अज्ञातवास की धाराएं हैं। इसका रहस्योद्घाटन तर्क की पृष्ठभूमि पर नहीं होता। मनुष्य ज्ञात के किंवाड़ों को भी पूरा नहीं खोल पाता। शब्दों को चुनने वाला माली कोई विरला ही होता है। भावों की ऊर्मियां प्रायः सागर के भीतर ही विलीन हो जाती हैं। मैं नहीं कह सकता कि मैंने अपने पिता को देखा। मैं ढाई मास का था, पिता इस संसार से चल बसे। मेरी अंतरात्मा कहती है—मैंने उन्हें देखा। उस समय का चित्र मेरी आंखों में अंकित है।

मां का आलंबन

मेरा ज्ञात जगत् से संबंध बढ़ने से पहले ही टूट गया। मेरी माता के लिए अब एक मात्र आलंबन में ही था। एक ढाई मास का बच्चा क्या कर सकता है और क्या सहारा दे सकता है? किन्तु आलम्बन कुछ कर सकने और देने में नहीं होता। वह होता है प्यार में, सुनहरे सपनों में। वैसी माताएं अपवाद रूप ही होंगी, जिनका अपनी सन्तान से प्यार न हो और अपनी सन्तान के भविष्य के लिए आशाओं का ताना-बाना न बुनती हो। समय की दूरी को काटने की कोई कैंची है तो वह है आशा। आशा ही आशा में मैं दस वर्ष का हो गया। इस अवस्था में मुझे बहुत पढ़ जाना चाहिए था, पर मैं बहुत ही कम पढ़ा। कभी मैं मेरे गांव में रहता और कभी ननिहाल में। कभी वहां कुछ पहाड़े पढ़े और वर्णमाला पढ़ी। इससे अधिक कुछ पढ़ा, यह मुझे याद नहीं है।

पहला मोड़

सातवें वर्ष में जीवन में एक मोड़ आया। मेरे चाचा की लड़की का ब्याह मेमनसिंह, पूर्वी बंगाल में था। तब मैं और मेरी माता भी वहां गई। कुछ दिन कलकत्ता में रुके। मुझे मेमनसिंह के एक स्कूल में भर्ती किया गया। मैंने वहां कुछ बंगला भाषा पढ़ी। मेमनसिंह से १२ मील की दूरी पर फूलवाड़िया है। वहां मेरे पिता की दुकान थी। उसे उठाने के लिए मुझे वहां भी जाना पड़ा। भले बेटे पिता की दुकान को जमाते हैं। मैं अपने को कपूत नहीं मानता फिर भी दुकान को उठाने के लिए मैं अधीर था, न जाने किस अज्ञात की प्रेरणा मुझे प्रेरित कर रही थी।

दूसरा मोड़

दूसरा मोड़ ग्यारहवें वर्ष के आते-आते आया। मन मुनि बनने की ओर झुका। उस समय मैं मुनि की परिभाषा को नहीं जानता था, पर उसकी आत्मा मुझसे अपरिचित नहीं थी। हमें बहुत बार शाब्दिक परिचय नहीं होता, आत्मिक परिचय सहज ही हो जाता है। मेरा स्थूल मन राग और विराग की भाषा नहीं जानता था पर मेरे संस्कारों में वे दोनों जड़ित थे। मुनिश्री छबीलजी और पूनमचन्दजी का संकेत मिला और मेरा विराग

११० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

संस्कार राग से ऊपर उठ आया। मैंने मुनि बनने की भावना प्रकट की। माताश्री ने कहा—मेरी भी यही इच्छा है। उस समय तेरापन्थ के आठवें आचार्य कालूगणी थे। वि. संवत् १६८७ के भादवें में मैं विरागी बना और माघ शुक्ला १० को अपनी माताश्री के साथ मुनि बन गया। इस तीसरे मोड़ में जीवन के संबंध व्यापक हो गये। कालूगणी का वरदहस्त मेरे सिर पर टिका। मैंने अज्ञात के विशाल पथ पर नई यात्रा शुरू कर दी।

मैं ज्ञात के निर्माण में अज्ञात का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योग मानता हूँ। पुरुषार्थ का अस्तित्व मानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि रुचि के निर्माण में परिस्थिति का बहुत बड़ा हाथ होता है। पर इन सबके उपरान्त भी अज्ञात जो है, वह ज्ञात से अधिक क्षमताशील है। हम इसीलिए बहुत बार विफल होते हैं कि हमारा तर्क ज्ञात से आगे नहीं दौड़ता।

सबसे बड़ी देन

परम पूज्य कालूगणी ने मेरी जीवन-नौका का कर्णधार तुलसी को चुना। कुशल कर्णधार के हाथ में वह सुरक्षित है। वह अनेक विशाल सरिताओं और सागरों का पार पा चुकी है। अब उस सागर की गोद में है, जिसका तट उसका अग्रिम विश्राम होगा। मेरे गुरुवर आचार्यश्री तुलसी व्यक्ति-निर्माण में अधिक विश्वास करते हैं। उन्होंने मुझे शक्ति का मन्त्र दिया। मैंने उसकी उपासना की। मुझे हर्ष है कि उपासना में मेरी तन्मयता कभी भंग नहीं हुई। मेरे गुरुवर ने मुझे विद्या-दान दिया, और भी जो प्राप्य थे, वे दिए पर मेरे लिए उनकी सबसे बड़ी देन है—अप्राप्य को प्राप्य बनने की तन्मयता। उसी से मैं अध्यात्म की गहराई में जाने को बार-बार प्रेरित हुआ हूँ। मेरी चैतन्य वीणा का हर तार इस गान से झंकृत है कि इससे बड़ा वरदान कोई नहीं है*।

* चालीसवें वर्ष प्रवेश पर लिखित निबंध।

१८. स्वस्थ कौन?

वीतराग सपर्यातः, तवाज्ञा पालनं परं।
आज्ञा राद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च॥

वीतराग! आपकी उपासना की अपेक्षा आज्ञा की आराधना श्रेयस्कर है। आज्ञा पालन के बिना केवल अर्चना का कोई मूल्य नहीं है। आज्ञा का उल्लंघन भव का हेतु होता है और पालन श्रेय का हेतु।

मैं भी अपने आराध्य की आज्ञा की आराधना के लिए यहां आया हूं। मैं आज्ञा में विश्वास करने वाला हूं। प्राचीन भारतीय संस्कृति की परम्परा में तो यहां तक लिखा है—

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नैव मन्यते।
शूनां योनौ शतं गत्वा चाण्डालेस्वपि जायते॥

यथार्थवाद की दृष्टि से देखें तो यह अर्थवाद हो सकता है पर सोचें इसके पीछे चिन्तन क्या है?

आज कृतज्ञता और विनय के संस्कार क्षीण हो रहे हैं इसीलिए गुरु शिष्य भाव टूट-सा रहा है। गुरु के प्रति शिष्य में आस्था का भाव नहीं है और गुरु में शिष्य के प्रति वात्सल्य नहीं है।

तर्क ही प्रधान हो, आज्ञा के लिए कोई स्थान बचा न रहे, यह जीवन की विकलांगता है। उसकी पूर्णता है, दोनों का समन्वय।

मैं स्वास्थ्य लाभ के लिए आया हूं, पर मैं देखता हूं स्वास्थ्य की आवश्यकता मुझे ही नहीं, सबको है। मैं नहीं मानता कि जो दुबले-पतले हैं, वे अस्वस्थ हैं और जो मांसल हैं वे सब स्वस्थ। कई अस्वस्थ होकर भी समझ नहीं पाते कि हम अस्वस्थ हैं। इसीलिए उनको स्वस्थ होने का अवसर नहीं मिलता। स्वास्थ्य के बिना जीवन सूना है।

शारीरिक दृष्टि से स्वास्थ्य का अर्थ है—हाड़ों की मजबूती।

मानसिक दृष्टि से स्वास्थ्य है अपने आप में टिके रहना और आत्मिक दृष्टि में—आगमों की भाषा में जो आत्मस्थ, गीता के शब्दों में जो स्थितप्रज्ञ और योग की भाषा में जो समाधिस्थ है, वही स्वस्थ है।

क्या मैं पूछूं—उपस्थित लोग स्वस्थ हैं? शारीरिक दृष्टि से हो सकते हैं किन्तु वह भी संभव नहीं है। शरीर को स्वस्थ बनाए रखें वैसी खाद्य-सामग्री कहाँ है? इस मिलावट के युग में शुद्ध खान-पान एक समस्या है। मानसिक स्वास्थ्य भी कैसे हो, छोटी छोटी बातों में क्रोध का पारा चढ़ जाता है, लोभ का पारावार नहीं।

मन की कितनी चंचलता और कितना विक्षेप? फिर मानसिक स्वास्थ्य कैसे हो? जहाँ मानसिक चंचलता और विक्षेप अधिक होता है, वहाँ पागलपन अधिक होता है। कई विकसित कहलाने वाले देशों में इसलिए पागलपन अधिक है कि वहाँ पर उन्माद और पागलपन को उभारने वाले साधन अधिक हैं। यह भारत का सौभाग्य ही समझिए कि यहाँ पागलपन कम है क्योंकि यहाँ उन्माद और पागलपन को उभारने वाले साधन अधिक नहीं हैं, और होने भी नहीं चाहिए। विज्ञान का विकास प्रगति पर है। वैज्ञानिक का ध्यान चन्द्रलोक की यात्रा में केन्द्रित है। एक ओर अणुविक शस्त्रों का परीक्षण चल रहा है। उनकी स्पर्धा में चन्द्र यात्रा तो दूर, मनुष्य लोक की यात्रा बनी रहेगी, यह भी बहुत है। इसलिए आवश्यक है कि आत्म-स्वास्थ्य के लिए अध्यात्म की ओर ध्यान दें। अन्यथा विज्ञान प्रलय की ओर ले जाएगा। अध्यात्म की धारा भारत के मानस में परिव्याप्त थी, आज वह क्षीण हो रही है। धार्मिक लोग साम्य और एकता के मंत्र को विस्मृत किए जा रहे हैं। जैन-दर्शन ने कहा—सब आत्माएं समान हैं। आत्मा को आत्मा से देखो। वेदान्त के अनुसार सबका मूल एक है। सत्य एक है, विद्वान् लोग उसे अनेक कहते हैं—“एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति”—यह अन्तर्दर्शन ही अध्यात्म-दर्शन है।

मेरा जगत् मेरे तक सीमित है दूसरों की चिन्ता क्यों करूं? इस भावना के विकास से मनुष्य दूसरों का अनिष्ट कर सकता है। जब चिन्तन का स्रोत यह रहे कि “हम सब एक हैं” तब कौन किसको कष्ट

दे? जिसे साम्य की तीव्र अनुभूति हो, क्या वह दूसरों को कष्ट दे सकता है? इसी तत्त्व के आधार पर यहाँ धर्म सदा प्रवहमान रहा, अन्यथा वह सूख जाता। अध्यात्म के बिना केवल बुद्धिवाद से न जाने कब क्या हो जाए। भारतीय शिक्षित इस ओर मुड़कर देखें।

इस बुद्धिवाद के युग में मनुष्यता असुरक्षित है। आज उसे अपने त्राण के लिए एक कवच की आवश्यकता है। अणुव्रत मनुष्यत्व के लिए कवच है। यदि मनुष्य मनुष्य बने रहना चाहता है तो वह अणुव्रत स्वीकार करे। यह मानवता की न्यूनतम परिभाषा है। यह आश्चर्य की बात है कि भौतिक साधनों पर लोग दृष्टि गड़ाए हुए हैं और अध्यात्म के साथ आंख मिचौनी ही खेल रहे हैं। अस्वास्थ्य का इससे बड़ा हेतु क्या हो सकता है?*

* राजसमंद में स्वास्थ्य के लिए आयुर्वेदीय पंचकर्म का प्रयोग प्रारंभ करने से पूर्व प्रदत्त वक्तव्य।

१६. महावीर को पूजे या समझे ?

एक पत्रकार ने पूछा—भगवान् महावीर का पचीस सौवां निर्वाण-दिवस मनाया जा रहा है, आज उसकी उपयोगिता क्या है? महावीर को पचीस सौ वर्ष हुए हैं। पचीस सौ वर्ष के अन्तराल में यदि हमारे सामने यह प्रश्न होता है कि आज क्या उपयोगिता है तो लाखों-लाखों वर्ष हो गए, सूरज की क्या उपयोगिता है? शायद नहीं पूछा। मैं मानता हूँ, महावीर की सबसे बड़ी उपयोगिता यदि है तो आज है। आचार्यश्री तुलसी ने कहा था कि पचीस सौ वर्ष पूर्व महावीर की उतनी उपयोगिता नहीं थी, जितनी उपयोगिता आज है। क्योंकि आज हम महावीर की जन्म-जयन्ती उस स्थिति में मना रहे हैं, जिस स्थिति में हिंसा का विकास हो रहा है। मैं इस बात को पर्याप्त नहीं मानता कि केवल हिंसा का विकास हो रहा है। हिंसा का विकास उस जमाने में भी था जब महावीर ने जन्म लिया था। किन्तु आज की परिस्थिति में और उस जमाने की परिस्थिति में बहुत बड़ा मौलिक परिवर्तन मैं देखता हूँ और वह अन्तर यह है कि जिस युग में महावीर ने जन्म लिया था, उस युग में हिंसा तो थी परन्तु हिंसा समस्या को सुलझाने का विकल्प नहीं थी। आज सबसे बुरी बात यह हो गई कि आज के हमारे युग ने, आज के विश्व ने और हिन्दुस्तान की घटनाओं ने यह प्रमाणित कर दिया कि वर्तमान समस्याओं को सुलझाने का यदि कोई एकमात्र विकल्प है तो वह है हिंसा। इतनी भयंकर दार्शनिक विकृति और वैचारिक विकृति मुझे किसी युग की चिंतनधारा में देखने को नहीं मिलती, जो आज मिल रही है।

आज हमारा विश्वास अहिंसा से उठ गया है। अहिंसा हमारी समस्याओं को सुलझाने का कोई विकल्प है, अहिंसा के द्वारा कोई समस्या सुलझाई जा सकती है, यह धारणा आज नहीं रही है। पुरानी

पीढ़ी में हो सकता है, कुछ बची भी हो किन्तु आज की नई पीढ़ी में यह संस्कार समाप्त हो गया है कि अहिंसा भी हमारे लिए उपादेय है या उसके द्वारा हमारे जीवन की कोई समस्या सुलझाई जा सकती है आज हमने एकमात्र विकल्प चुन लिया है हिंसा, हिंसा की भाषा। सरकार से कोई बात मनवानी है तो हिंसा करनी होगी और सरकार भी कोई बात मानेगी तो तब मानेगी जब सामने हिंसा आ जाती है। यह गोली की भाषा जो चल रही है और इस गोली की भाषा में जिसका विश्वास हो गया, मैं समझता हूँ कि यह भूल हो गई प्रकृति की। महावीर को ढाई हजार वर्ष पूर्व नहीं, उन्हें आज जन्मना चाहिए था। कितना अच्छा होता यदि महावीर जैसा तेजस्वी और पराक्रमी व्यक्तित्व आज इस धरती पर जन्म लेता और हमारे बीच होता। हमारी कितनी गलत धारणाओं और गलत उपक्रमों को बदलने के लिए कोई उपक्रम प्रस्तुत करता। महावीर चक्षुदाता थे।

पुराने जमाने की बात है। एक वैद्य के पास एक अंधा व्यक्ति गया। जाकर बोला—‘वैद्यप्रवर! इस शहर में कितने लोग कपड़े रखने वाले हैं और कितने व्यक्ति बिना कपड़े वाले, मुझे गिनकर आप बता दीजिए।’ वैद्य ने कहा—‘मैं कहां निकम्मा बैठा हूँ, जो तुम्हारी गिनती करता फिरूँ। मैं किस-किस के पास जाऊँ? मैं एक काम कर देता हूँ कि तुम्हारी आंखों को ठीक कर देता हूँ।’ उसने एक अंजन लगाया। जिससे आंखें खुल गई। वैद्य ने कहा—‘अब जाओ और देख लो कि कौन वस्त्र रखने वाला है और कौन बिना वस्त्र का।’

जो आदमी आंख देता है, वह दर्शन देता है, वह सब कुछ देखने की ताकत देता है। भगवान् महावीर ने एक ऐसा अंजन आंजा कि हमें देखने के लिए दृष्टि दी। मैं देखता हूँ कि ढाई हजार वर्षों की अवधि में, समूचे संहित्य में, समूचे भारतीय चिंतन में महावीर अपने प्रकार का अकेला व्यक्तित्व है। मैं जैन मुनि हूँ, महावीर का अनुयायी हूँ इसलिए यह बात नहीं कर रहा हूँ। मेरे आचार्य ने मेरी भी आंख में कोई ऐसा अंजन आज दिया कि मुझे ऐसा नहीं लगता कि जैन हो, वह तो अच्छा ही होता है और बौद्ध होता है या और कुछ होता है, वह खराब होता है। मैं तो विचारों को देखता हूँ। जिसका विचार मुझे गहराई में लगता

११६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

है, चाहे माओ का हो, चाहे कन्प्युशियस का हो, उसके सामने मेरा सिर श्रद्धा से झुक जाता है। महावीर के प्रति इसलिए मेरा सिर नहीं झुकता कि मैंने उनकी परम्परा को स्वीकार किया है। परम्परा को स्वीकार करना एक बात है किन्तु विचारों के पीछे लग जाना यह दूसरी बात है। मैंने देखा, महावीर ने जो कुछ भी किया, यदि सचमुच हम भारतीय चिंतन का विश्लेषण करें तो कुछ ऐसी मौलिकता पाएंगे कि जो विरल, अपने आपमें अद्वितीय और अनुपम होगी।

कुछ दिन पहले मैं एक ग्रन्थ लिखने के प्रसंग में कुछ बातें देख रहा था। बातें गहरी नहीं थीं और ऐसी भी नहीं थीं कि वे बातें मैंने पहली बार देखी हों। न जाने कितनी बार ग्रन्थ का पारायण किया था। ग्रन्थ भी कोई दार्शनिक गहराई का नहीं था। साधारण था—श्रावक-प्रतिक्रमण। मैं देख रहा था। देखते-देखते ध्यान गया और कुछ बातें ध्यान में आयीं। मैंने उसी समय गुरुदेव के सामने रखीं। महावीर ने कहा—‘अच्छा हो, हम अपना संयम अपने आप करें।’

अब आप देखिए। कुछ ही वर्ष पूर्व स्वर्ण का नियन्त्रण हुआ था। आज भूमि का नियन्त्रण हो रहा है। शहरी संपत्ति का नियन्त्रण हो रहा है। अनाज का संग्रह करने वालों पर नियन्त्रण हो रहा है और पूंजी पर भी नियन्त्रण हो रहा है। सारे नियन्त्रण सरकार लगा रही है। आज आपको भगवान् महावीर की वाणी याद होती तो शायद सरकार को यह नियन्त्रण लगाने की आवश्यकता न पड़ती। आप श्रावक प्रतिक्रमण के पांच व्रतों और अतिचार को देखिए। आज सरकार क्या कह रही है और पचीस सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर क्या कर रहे हैं? वे कह रहे हैं कि धन की सीमा करो—इतने से अधिक धन का संग्रह नहीं करूंगा, इतने से ज्यादा अनाज का संग्रह नहीं करूंगा।

नियन्त्रण था पर उसको भुला दिया। इसीलिए सरकार को बाध्य होकर नियन्त्रण लाना पड़ रहा है। पशुओं का संग्रह नहीं करूंगा : प्रमाण से ज्यादा घरेलू उपकरणों का संग्रह नहीं करूंगा। ये थे भगवान् महावीर के अपरिग्रह या इच्छा-परिमाण व्रत के पांच उपदेश। आज हम धर्म को शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। धर्म आध्यात्मिक है, धर्म व्यक्तिगत है किन्तु भगवान् महावीर ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने जहां

धर्म के व्यक्तिगत रूप का प्रतिपादन किया, धर्म को आध्यात्मिक रूप में प्रतिपादित किया तो दूसरी ओर धर्म के सन्दर्भ में सामाजिक बुराइयों और सामाजिक समस्याओं के प्रतिकार का सूत्र दिया। कितना अच्छा होता कि हम महावीर को भलीभांति समझते।

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा—वीतराग! आपकी पूजा करने की अपेक्षा आपकी आज्ञा पालना बहुत श्रेष्ठ है। दो बातें हैं—एक पूजा करना और एक आज्ञा-पालन करना। हम ऐसी संतान हो गए कि पूजा तो खूब करते हैं किन्तु आज्ञा-पालन नहीं चाहते। हम पिता के चरणों में वंदन करना जानते हैं पर यदि पिता आज्ञा दे कि इधर आओ तो हम उधर जाएंगे। अरे! बाप कैसे प्रसन्न होगा! आप उनकी हजार बार पूजा करें और उनकी एक बात को भी टाल दें तो वे प्रसन्न कैसे होंगे? यह स्थिति आज जैन समाज की नहीं, सारे धार्मिक समाज की हो रही है। हिन्दुस्तान के वैचारिक पतन और मानसिक गुलामी का यदि कोई बड़ा कारण है तो वह है कोरा पूजावाद, आचार-शून्य पूजावाद। इस भक्तिवाद ने, इस कोरे कर्मकाण्ड और कोरी उपासना ने, हिन्दुस्तान के चरित्र का जितना पतन किया, उतना किसी ने नहीं किया, उतना शायद नास्तिकों ने भी नहीं किया। इस सारी स्थिति के सन्दर्भ में महावीर को समझने का प्रयत्न करें। बहुत सुन्दर अवसर हमारे सामने आ रहा है। पचीस सौ वर्षों का लेखा-जोखा करने का हमें मौका मिल रहा है। हमारा एक दिशा में प्रयत्न होना चाहिए। ऐसा नहीं कि हमारी दृष्टि बदलती रहे, कभी कुछ और कभी कुछ सोचती रहे। अपने लिए कुछ और दूसरे के लिए कुछ सोचें। मुझे एक प्रसंग याद आ रहा है—राजनीतिक दलों में आजकल दल-बदल की बात चल रही है। एक बड़े राजनीतिक कार्यकर्ता ने अपना दल बदल दिया। जिस पार्टी से वे निकले, उस पार्टी के हाईकमान ने प्रस्ताव किया कि उसने अनुशासन को भंग किया है, इसलिए उसे तिरस्कृत करना चाहिए, उसकी निन्दा करनी चाहिए, दण्डित करना चाहिए। थोड़े दिन बाद दूसरी पार्टी का सदस्य उनकी पार्टी में आया तो सब मिले और मिलकर बोले—‘इसका हृदय परिवर्तन हुआ है इसलिए इसका अभिनन्दन होना चाहिए।’ जहां आने का प्रश्न है, वहां हृदय-परिवर्तन के लिए अभिनन्दन होना चाहिए और जहां जाने का प्रश्न

११८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

है, वहां तिरस्कार होना चाहिए। यदि सचमुच जैन समाज ने ऐसा दृष्टिकोण रखा, हमारे तोलने के बाट दो प्रकार के रहे तो मैं समझता हूं, पच्चीस सौवीं निर्वाण शताब्दी का अर्थ भी बहुत कम हो जाएगा। आज हम यह सोचें कि भगवान् महावीर ने जो सूत्र दिए थे, उन सूत्रों का हम पालन करें।

भगवान् महावीर ने, जहां तक मैं समझ पाया हूं और पढ़ने को मिला है, कहीं भी नहीं कहा कि मेरा कोरा नाम जपो, कोरी पूजा करो, यह करो, वह करो। भगवान् के पास कोई भी आया। उससे उन्होंने यही कहा—व्रतों को स्वीकार करो। हिन्दुस्तान में एक महावीर ही ऐसे हुए हैं, जिन्होंने व्रतों पर इतना बल दिया है, संयम पर इतना बल दिया है और चरित्र पर इतना बल दिया है।

आज इस समय हमें आत्मालोचन करना चाहिए कि महावीर की जयंती मना रहे हैं और प्रतिवर्ष मनाते चले आ रहे हैं, अच्छा है। मैं मानता हूं कि शुभ है, बुरा नहीं है। किन्तु उसके साथ यह और जोड़ देना चाहिए कि महावीर की जयंती मनाते समय हम इस बात को न भूलें कि अकेले भगवान् महावीर ने अपने जमाने में तीन लाख से अधिक बारह व्रती श्रावक पैदा किए थे। आज हमारे जितने जैन हैं, उनमें जैन अनुयायी तो हैं किन्तु श्रावक कितने हैं, इस पर हमें विचार कर लेना चाहिए। आज चारों समाजों में हमारे हजारों साधु-साध्वियां हैं। क्या आज तीन लाख जैनों को बारह व्रती श्रावक नहीं बनाया जा सकता? अगर आज तीन लाख श्रावक जैनों में बारह व्रती बन जाएं तो हिन्दुस्तान में शायद एक नई क्रान्ति का सूत्रपात हो सकता है। मैं आशा करता हूं कि हिन्दुस्तान में आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात करने के लिए जैन समाज आगे आएगा!*

* भगवान् महावीर की पच्चीस सौवीं निर्वाण शताब्दी पर प्रदत्त वक्तव्य।

२०. बाहुबलि : स्वतंत्र चेतना का हस्ताक्षर

श्रवणवेलगोला में भगवान् बाहुबलि की विशाल प्रतिमा एक प्रश्नचिह्न है और एक अनुत्तरित प्रश्न का समाधान भी है। क्या मनुष्य शरीर इतना विशाल हो सकता है? हजारों-हजारों वर्ष पहले कोई सौर मण्डल का ऐसा प्रभाव रहा होगा, मनुष्य ने विशाल शरीर पाया होगा। उसकी पुष्टि में अभी कोई तर्क प्रस्तुत नहीं करना है। वर्तमान की समस्या का वर्तमान के संदर्भ में समाधान खोजना है। कभी-कभी बाहरी उपकरण मनुष्य की अंतरात्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं। भगवान् बाहुबलि की विशाल प्रतिमा का रहस्य उनकी अंतरात्मा की विशालता में खोजा जा सकता है। स्वाभिमान, स्वतंत्रता और त्याग की विशालता में बाहुबलि असाधारण हैं। यह विशाल प्रतिमा उसी विशाल व्यक्तित्व का एक प्राणवान् दर्शन है।

भरत दिग्विजय कर अपनी राजधानी अयोध्या में पहुंचा। सेनापति सुपेण ने कहा—“चक्र आयुधशाला में प्रवेश नहीं कर रहा है।” भरत ने जिज्ञासा के स्वर में कहा—“क्या कोई राजा अभी बचा है, जो अयोध्या के अनुशासन को शिरोधार्य न करे?” सेनापति बोला—“कोई बचा है इसीलिए चक्र आयुधशाला में प्रवेश नहीं कर रहा है।” “कौन बचा है?” अपनी स्मृति पर दबाव डालते हुए भरत ने कहा। सेनापति फिर भी मौन रहा। भरत को उसका मौन अच्छा नहीं लगा। उसने झुंझलाहट के साथ कहा—“लगता है, तुमसे कुछ छिपा हुआ नहीं है। तुम सकुचा रहे हो। मौन भंग नहीं कर रहे हो।” सेनापति बोला—“क्या कहूं? समस्या घर की है। पराए सब राजे जीत लिये गए हैं। कोई बाकी बचा है तो वह अपना ही है।” “क्या बाहुबलि बचा है?” भरत के मुख से अचानक यह नाम निकल गया। “वह मेरा भाई है। फिर वह कैसे अवरोध पैदा करेगा

मेरे चक्रवर्ती होने में?" सेनापति ने विनम्र स्वर में कहा—“सम्राट्! मैं नहीं कहता, वह अवरोध पैदा करेगा। यह मैं कह सकता हूँ, चक्र आयुधशाला में प्रवेश नहीं कर रहा है। उसका कारण बाहुबलि का आपके चक्रवर्तित्व में विश्वास न होना ही है।”

भरत ने सेनापति से विमर्श कर बाहुबलि के पास अपने दूत को भेजा। दूत तक्षशिला में पहुंच बाहुबलि के सामने उपस्थित हो गया। बाहुबलि ने भरत का कुशल-क्षेम पूछा। दूत बाहुबलि के तेज से अभिभूत हो गया। वह मौन रहा। कहना चाहते हुए भी कुछ कह नहीं पाया। बाहुबलि ने उसकी आकृति को पढ़ा। स्वयं बोल उठे—“भाई भरत में और मुझमें आज भी प्रेम और सौहार्द है। पर क्या करें? हम दोनों के बीच देशान्तर आ गया, जिस प्रकार प्रेम से भीगी हुई आंखों के बीच नाक आ जाती है। दूत! पहले मैं भाई के बिना मुहूर्त भर भी नहीं रह सकता था किन्तु आज मेरी आंखें उसे देखने को प्यासी हैं। वे उपवास कर रही हैं। उसे देख नहीं पा रही हैं। इसलिए ये दिन मेरे व्यर्थ बीत रहे हैं। मैं उस प्रीति को स्वीकार नहीं करता, जिसमें विरह होता है। यदि हम वियुक्त होकर भी जी रहे हैं तो इसे प्रीति नहीं, रीति ही समझना चाहिए।” दूत बाहुबलि की बातें सुन पुलकित हो उठा। उसने सोचा—मुझे भरत का संदेश बाहुबलि को देना ही नहीं पड़ा। यह भरत से बहुत प्यार करता है। मुझे पूरा विश्वास है कि मुझे अकेला नहीं लौटना पड़ेगा। मैं बाहुबलि के साथ ही भरत के चरणों में उपस्थित होऊंगा। दूत नहीं जानता था कि प्रेम और स्वतन्त्रता दोनों अलग-अलग हैं। बाहुबलि प्रेम करना जानता है, पर स्वतन्त्रता को बेचना नहीं। बाहुबलि ने दूत के स्वप्न को भंग करते हुए कहा—“दूत! पिताश्री ने मुझे एक स्वतन्त्र राज्य सौंपा है, इसलिए मैं अयोध्या जा नहीं सकता। मेरा हृदय वहां जाने के लिए वैसे ही उत्कंठित है, जैसे रात के समय चकवा चकवी से मिलने के लिए उत्कंठित रहता है। दूत! तुम बोलो, मौन क्यों बैठे हो? भरत ने तुमको किसलिए यहां भेजा है, उसे स्पष्ट करो?” बाहुबलि की वाणी से दूत में कुछ प्राण-संचार हुआ। वह साहस बटोर कर बोला—“महाराज! आपको पता है आपके भाई भरत दिग्विजय कर अयोध्या लौट चुके हैं। उनकी सभा में संसार के सभी राजे हैं। वे

सभी सम्राट् के सामने नतमस्तक हैं, सम्राट् की आज्ञा को शिरोधार्य किए हुए हैं। उनकी उपस्थिति में आपकी अनुपस्थिति सम्राट् को खल रही है। वे चाहते हैं आप उस महापरिषद् में उपस्थित हों और उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करें।” परामर्श मांगे बिना ही दूत अपना परामर्श दे बैठा—“सम्राट् ने जो कहलाया है, उसे मैं भी उचित मानता हूं। आपके हित की दृष्टि से कहना चाहता हूं कि आप उनकी इच्छा का मूल्यांकन करें। आप यह सोच कर निश्चिन्त हैं कि भरत मेरा भाई है, किन्तु ऐसा सोचना उचित नहीं है। क्योंकि राजाओं के साथ परिचय करना अन्ततः सुखद नहीं होता। यद्यपि आप बलवान् हैं, फिर भी कहां सार्वभौम सम्राट् भरत और कहां एक देश के अधिपति आप। दीपक कितना भी बड़ा हो, वह एक ही घर को प्रकाशित करता है, सारे जगत् को प्रकाशित करने वाला तो सूर्य ही है।”

दूत की वाचालता ने बाहुबलि की शौर्य-ज्वाला को प्रदीप्त कर दिया। वे बोले—“ऋषभ के पुत्रों के लिए राजाओं को जीत लेना कौन-सी बड़ी बात है? मुझे जीते बिना ही भरत सार्वभौम चक्रवर्ती बनकर दर्प कर रहा है, यह बहुत आश्चर्य की बात है। आज तक मेरे लिए भाई भरत पिता की भांति पूज्य था, किन्तु आज से वह मेरा विरोधी है। वह अपने छोटे भाइयों के राज्यों को हड़पकर भी संतुष्ट नहीं हुआ। अब मुझ पर अपनी आज्ञा थोपना चाहता है और मेरे राज्य को अपने अधीन करना चाहता है। पर मैं ऐसा नहीं होने दूंगा। मेरे निन्यानवें भाई राज्य को छोड़ पिता के पास चले गए—मुनि बन गए। वैसे ही मैं भी चला जाऊं? उन्होंने संघर्ष को टालने के लिए वैसा किया, किन्तु मैं ऐसा नहीं कर सकता। मैं उनकी भांति सीधा नहीं, अपना पराक्रम दिखाने के बाद जाऊंगा। दूत! तुम शीघ्र जाओ और भरत से कहो—हम अपनी मर्यादा का लोप न करें। यदि तुमने युद्ध लाद दिया तो मैं पीछे नहीं रहूंगा। जय-पराजय की कथा दुनिया कहेगी। मैं संघर्ष से नहीं घबराता। मुझे केवल एक ही चिन्ता है कि भगवान् ऋषभ ने सारे संसार को मर्यादा, व्यवस्था और अनुशासन का पाठ पढ़ाया। हम दोनों युद्ध में उतरेंगे तो लोग क्या कहेंगे? इतिहास लिखा जाएगा—भगवान् ने व्यवस्था दी और उनके पुत्रों ने ही सबसे पहले उस

१२२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

व्यवस्था को तोड़ा। भाई-भाई की लड़ाई के लिए भरत-बाहुबलि की लड़ाई उदाहरण बन जाएगी।”

दूत हतप्रभ हो बाहुबलि की उदात्त वाणी को सुनता रहा। वह बाहुबलि से विदा ले भरत के पास पहुंच गया। बाहुबलि ने जो कहा, वह भरत को बता दिया।

भरत बाहुबलि से युद्ध करना नहीं चाहता था। नहीं क्यों चाहता था, चक्रवर्ती बनने की आकांक्षा है तो वह युद्ध चाहता ही था। भरत ने विजय-यात्रा के लिए प्रयाण कर दिया। बाहुबलि भी रणभूमि में आ गया। दोनों की सेनाएं आमने-सामने डट गईं। परस्पर युद्ध हुआ। बारह वर्ष तक चला। मानवीय हित के पक्ष में सेना का युद्ध स्थगित हो गया। भरत और बाहुबलि दोनों ने परस्पर युद्ध करने का निर्णय लिया। उन्होंने दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध, शब्दयुद्ध और यष्टियुद्ध—ये चार युद्ध निश्चित किए। भरत और बाहुबलि का दृष्टियुद्ध कुछ प्रहरों तक चला। उनकी अनिमेष आंखें एक-दूसरे को घूर रही थीं। भीगी हुई पलकों के अन्तराल में ताराएं डूब रही थीं। भरत की दोनों आंखें श्रान्त हो गईं। बाहुबलि वैसे ही एकटक निहारते रहे। भरत पराजित हो गया। मुष्टियुद्ध, शब्दयुद्ध और यष्टियुद्ध में भी भरत को पराजय मिली। पराजित भरत ने मर्यादा का अतिक्रमण कर बाहुबलि पर चक्र अस्त्र का प्रयोग किया। चक्र बाहुबलि के पास गया। प्रदक्षिणा कर भरत के पास लौट आया : वह आत्मीय जनों पर प्रहार नहीं करता। लेजर किरण की गन लाल रंग पर प्रहार नहीं करती। इस चक्र-प्रयोग की घटना से बाहुबलि का क्रोध सीमा पार कर गया। उन्होंने मुट्ठी उठाई और आक्रमण की मुद्रा में भरत की ओर दौड़े। उपस्थित रणमेदिनी ने हाहाकार किया। एक साथ भूमि और आकाश से प्रार्थना का स्वर फूटा—“ऐसा मत करो। बाहुबलि, यदि तुम भी अपने बड़े भाई को मारना चाहते हो तो बड़े भाई की आज्ञा मानने वाला दूसरा कौन होगा? राजन्! इस क्रोध संहरण करो। जिस मार्ग पर तुम्हारे पिता चले हैं, उसी मार्ग का अनुसरण करो। भरत को क्षमा करो।” बाहुबलि का अन्तर-विवेक जागा। क्रोध को शान्त कर बोले—“मेरा उठा हुआ हाथ खाली नहीं जा सकता।” अपने हाथ को अपनी ओर मोड़ा। केश का लुंचन कर तपस्या के लिए प्रस्थान कर

दिया। विजय की बेला में किया जाने वाला प्रस्थान तपस्या की यात्रा का आदर्श बन गया। स्वतन्त्रता के प्रेम की गाथा अमर हो गई।

त्याग वही कर सकता है, जिसकी चेतना स्वतंत्र होती है। विजय के क्षण में क्षमा वही कर सकता है, जिसकी चेतना स्वतंत्र है। जीते साम्राज्य को वही त्याग सकता है, जिसकी चेतना स्वतंत्र है। बाहुबलि की विशाल प्रतिमा में उस विशाल स्वतंत्र चेतना का दर्शन उल्लिखित है। हजारों-हजारों लोग उस दर्शन का आकलन करने के लिए उत्सुक हैं।*

* श्रवण बेलगोला में बाहुबलि के महामस्तकाभिषेक अवसर पर आलेखित निबंध

२१. भगवान् महावीर की प्रथम ज्योति भगवान् बाहुबलि

स्वतंत्रता मनुष्य की अमिट चाह है। कोई भी मनुष्य किसी की अधीनता को स्वीकार करना नहीं चाहता। पर इस चाह की एक बाधा है। वह है पराक्रम और शक्ति-संचय। पराक्रमी मनुष्य दूसरों को अधीन बनाना अपना जन्मजात अधिकार मान लेता है। जो शक्ति-संचय कर लेता है, उसकी मान्यता भी ऐसी हो जाती है। चक्रवर्ती भरत पराक्रमी थे और दिग्विजय के द्वारा उन्होंने शक्ति-संचय भी कर लिया था। उन्होंने सैकड़ों-सैकड़ों राजाओं की स्वतंत्रता छीन ली। संकल्प किया कि प्रत्येक राजा उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करे, अन्यथा वे दिग्विजय की यात्रा को संपन्न नहीं करेंगे। और सब राजे उनकी शक्ति के सामने नत-मस्तक हो गए। केवल बचे थे निन्यानबे भाई। अट्ठानबे भाई भगवान् ऋषभ के पास दीक्षित हो गए। अब शेष रहे बाहुबलि। भरत ने उन्हें भी निमंत्रित किया अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए, पर बाहुबलि स्वतंत्रता के संरक्षक थे। परतंत्र होने की कल्पना भी उनके मानस में नहीं थी। भरत की इस साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से उनके मन को बड़ा आघात लगा। वे भाई से लड़ना नहीं चाहते थे और अपनी स्वतंत्रता को खोना किसी भी मूल्य पर उन्हें स्वीकार्य नहीं था। दोनों विरोधी धाराओं के बीच उन्होंने भाई से लड़ना स्वीकार किया। स्वतंत्रता को बलिवेदी पर चढ़ाना उन्हें मान्य नहीं हुआ।

यदि बाहुबलि भरत की विशाल सेना को देख भयभीत हो जाते तो स्वतंत्रता की लौ प्रज्वलित नहीं रहती। आज भी स्वतंत्रता की लौ प्रज्वलित है, उसकी पृष्ठभूमि में बाहुबलि का अदम्य साहस एक प्रेरक तत्त्व के रूप में काम कर रहा है। साम्राज्यवादी शक्तियों की

सत्ता-लोलुपता के विरुद्ध लड़ने की उन्होंने एक परम्परा डाली थी, उसका अनुगमन आज भी हो रहा है। किन्तु वर्तमान धारा ने एक नया मोड़ ले लिया। स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने वाले विजेता होकर फिर साम्राज्यवादी मनोवृत्ति अपना लेते हैं। सुख-सुविधा, आरामतलबी, ऐश्वर्य, भोग और ठाट-बाट में साम्राज्यवादी भी उनसे पीछे रह जाते हैं। विचित्र था बाहुबलि का त्याग। अद्भुत था उनका संयम। वे विजेता बने। पर सुख-सुविधा उन्हें प्रभावित नहीं कर सकी। सच्चा स्वतंत्र वही होता है, जो सत्ता से अभिभूत नहीं होता। भोग और ऐश्वर्य से पद-दलित नहीं होता। बाहुबलि ने स्वतंत्रता को जो प्रतिष्ठा प्रदान की, वह आज भी आदर्श है। उसमें दूसरे व्यक्ति की अधीनता स्वीकार न करने का जितना मूल्य है उतना ही मूल्य है अपनी दुर्बल वृत्तियों की अधीनता के अस्वीकार का।

भगवान् बाहुबलि की स्मृति की बहुत सार्थकता होगी यदि आज का संसार स्वतंत्रता के प्रथम मूल्य की भांति द्वितीय मूल्य का भी अंकन कर सके।

२२. तेरापंथ के कुछ प्रतिबिम्ब

जो नहीं जानता कि तेरापंथ क्या है? उसके लिए वह अच्छा भी नहीं है, बुरा भी नहीं है। अच्छाई या बुराई का भाव परिचय से प्राप्त होता है। जैसे-जैसे तेरापंथ विकास में आया, परिचय बढ़ा, वैसे-वैसे वह कसौटी पर चढ़ा। किसी ने उसकी अच्छाइयों को पकड़ा, किसी ने खामियों को और किसी ने दोनों को। जो अनुरक्त होता है, वह केवल अच्छाइयों को देखता है। जो धृष्ट होता है वह केवल खामियों को पकड़ता है। जो मध्यस्थ होता है वह दोनों को देखता है। संस्थान जो होता है, वह ऐसा नहीं होता कि उसमें केवल अच्छाइयां ही हों या उसमें केवल खामियां ही हों। मात्रा भेद से कहा जाता है यह अच्छा है, यह बुरा है।

मैं तेरापंथ की परिधि में ही जन्मा हूँ, पला-पुसा हूँ। वहीं मुझे शिक्षा-दीक्षा मिली है। एक दिन मैं जन्मना तेरापंथी था। आज मैं कर्मणा तेरापंथी हूँ। मैं कहूँ तेरापंथ अच्छा है तो मेरी श्रद्धा का अतिरेक समझा जायेगा। मैं तेरापंथ की खामियां बताऊँ तो मेरे ही साथी मेरी निष्ठा को अपरिपक्व मानने लग जाएंगे। इस विषम मार्ग पर मैं क्यों चलूँ? क्यों श्लाघा करूँ और क्यों खामियों का बखान करूँ? अच्छा यही है कि कोई तीसरा ही मार्ग चुनूँ। मैं देने का यत्न न करूँ। स्फटिक बने रहना अच्छी बात है। दर्शक स्वयं देख लेंगे, जो प्रतिबिम्ब होगा।

इधर कुछ लोग आश्चर्य में हैं। आश्चर्य इस बात का है कि लाखों व्यक्तियों का संगठन; शक्ति और अर्थ का सहारा लिए बिना कैसे निभ रहा है?

आचार्य के पास ऐसी क्या सत्ता है, जो लाखों व्यक्ति उन्हीं को सब कुछ मानकर चलते हैं। अहिंसा की शक्ति और अपरिग्रह की सत्ता सचमुच एक प्रश्न है। इसका समाधान ढूंढा जाता है—आचार्यश्री तुलसी के

व्यक्तित्व में।

तेरापंथ, उसकी व्यवस्था, अनुशासन और मन्तव्य जो प्रकाश में आया, उसका निमित्त है गुरुदेव का व्यक्तित्व। इसलिए उससे समाधान पाने का जो भाव है, वह असहज नहीं है।

आचार्य भिक्षु के कर्तृत्व को प्रकाश में लाने का श्रेय आचार्यश्री तुलसी को है, तो आचार्यश्री तुलसी के संगठन को शक्तिशाली बनाने का श्रेय आचार्य भिक्षु को है।

दण्ड-शक्ति और अर्थ की धुरी पर परिक्रमा करने वाले संगठन जितना मस्तिष्क का स्पर्श करते हैं, उतना हृदय का नहीं। अहिंसा और अपरिग्रह का सम्बन्ध सीधा हृदय से है। आचार्य भिक्षु ने आत्मानुशासन को परिपक्व बनाने का प्रयत्न इसीलिए किया कि व्यवस्था स्वचालित बन जाए। जो व्यवस्था चलाई जाती है, वह लंगड़ाती-सी चलती है। सुन्दर गति से वही चलती है, जो स्वयं चले।

धन से धर्म नहीं होता—आचार्य भिक्षु ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया। तब बहुतों को अटपटा-सा लगा। इसकी गहराई को नापने में आज भी कठिनाई होती है। परिग्रह की सत्ता धर्म पर, चैतन्य पर छा जाती है। यह पहले भी रहा है, आज भी है। इससे मुक्ति दिलाना वे चाहते थे। इसीलिए उन्होंने कहा—“धन से धर्म नहीं होता।”

जहां यह माना जाता है—धन से धर्म होता है, वहां त्याग नीचे रहता है और धन सिंहासन पर। जहां यह माना जाता है—धन से धर्म नहीं होता वहां धन नीचे लुटता है; त्याग सिंहासन पर रहता है। गुरुदेव अकिंचन हैं। बड़े-बड़े धनपति उनकी कृपा के लिए तरसते हैं तब आकिंचन्य मुस्कुराता है और धन को तरस आता होगा अपने आप पर।

जिसके केन्द्र में परिग्रह है, उससे परिग्रह दूर जाता है परिग्रह उसके पीछे झूमता है, जिसके केन्द्र में परिग्रह नहीं होता। तेरापंथ और उसकी व्यवस्था इसलिए आश्चर्यजनक है कि उसके केन्द्र में परिग्रह नहीं है।

तेरापंथ के साधु-साध्वियों की संख्या ६५० से अधिक है। एक आचार्य के नेतृत्व में इतना बड़ा साधु समुदाय कहीं विरल ही प्राप्त होगा। इनके आहार-विहार, रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा—सब गुरुदेव के निर्देशानुसार होते हैं। बाहर से लगता है जीवन नियन्त्रित है और जो

१२८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

नियन्त्रित हैं, उन्हें लगता है कि हम स्वाधीन हैं। अपना अनुशासन है और अपना नियन्त्रण है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—सब शिष्य एक ही आचार्य के होने चाहिए, साधुओं को अपने-अपने शिष्य नहीं बनाने चाहिए। साधुओं ने कहा—“यही होना चाहिए।”

आचार्य भिक्षु ने कहा—जीवन की सारी चर्या आचार्य के आदेशानुसार ही चलनी चाहिए।

साधुओं ने कहा—ऐसा ही होना चाहिए।

प्रश्न होता है, यह ध्वनि की प्रतिध्वनि क्यों? उत्तर बहुत स्पष्ट है। अहिंसा और क्या है? एक में, दो में, तीन में, सबमें कोई विषमता न रहे, समत्व की अनुभूति हो जाए, यही तो अहिंसा है। एक चलाए और सब चलें—यह व्यवहार है। सचाई यह है कि चलने वाले में चलने का भाव हो और चलने वाले चलाने वाले को अविभिन्न मानें। अनुभूति में जो सहयोग होता है वह हृदय को विभक्त नहीं होने देता। यह आवश्यक नहीं कि जो पैर करे वही मस्तिष्क करे और यह संभव नहीं कि जो मस्तिष्क करे वही पैर करे। पर यह आवश्यक है कि पैर और मस्तिष्क की अनुभूति एक हो। तेरापंथ इसलिए आश्चर्य है कि उसमें संवेदना का धागा अखण्ड है।

संविभाग की भावना नई नहीं है। यह बहुत पुराना शब्द है। भगवान् महावीर ने कहा—जो मुनि असंविभागी है, वह मोक्ष नहीं पायेगा। आचार्य भिक्षु ने इस सूत्र को संघ व्यवस्था का आधार बनाया। वैसे तो साधु अपरिग्रह के व्रती होते हैं—पर जीवन तो आखिर जीवन है। जो जीता है वह खाता-पीता भी है। जो समाज के बीच रहता है वह पहनता-ओढ़ता भी है। जो है वह कहीं रहता भी है। खाने को जो मिले वह सब बांट-बांट कर खाएँ। कपड़ा जो मिले उसे बांट-बांट कर पहनें। स्थान जो मिले उसमें बांट-बांट बैठे, सोएँ। बांटने की बात इतनी प्रधान बन गई कि बिना बांटे जिसने एक पाव पानी पिया, वह संघ से बहिष्कृत कर दिया गया। जो बिना बांटे अकेला अधिक लेना चाहे वह अपने साधर्मिकों की चोरी करता है। उसमें अचौर्य की भावना के साथ-साथ संविभाग रम गया। तेरापंथ इसीलिए आश्चर्य है उसमें

संविभाग को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है।

जहां संघ होता है वहां अनेकता होती है। अनेकता से संघ नहीं बनता। संगठन का आधार है एकता। अपने विचारों में भले स्वतन्त्र हो, अनेकता हो, पर संगठन के आधार-भूत मौलिक विचारों में एकता हो, यह अपेक्षित है। आचार्य भिक्षु ने अन्तिम निर्णय का अधिकार आचार्य को दिया। तेरापंथ इसलिए आश्चर्य है कि वह समन्वय की दिशा से अपरिचित नहीं है। वह दूसरों की बुद्धि पर भरोसा करना जानता है।

सेवा को परम धर्म माना गया है। यह संगठन का आधार बना। साधुओं का जगत् एक अर्थ में बहुत छोटा है। उसमें सब बड़े बन बैठ जाएं तो काम कौन करे? जहां सब में भाई-भाई का व्यवहार है, वहां नौकर कौन आये? आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था दी—व्यक्तिगत काम स्वयं व्यक्ति करे और सामुदायिक काम सब करें—बारी-बारी से करें। विशेष स्थिति में एक-दूसरे की सेवा करें। जो एक साधु की सेवा करता है वह समूचे संघ की सेवा करता है। जो एक साधु की उपेक्षा करता है, वह समूचे संघ की उपेक्षा करता है। सेवा का भाव बढ़ा। वह साधना का एक अंग बन गया। कब क्या हो जाए, यह प्रश्न चिह्न नहीं बनता। इस निश्चिन्तता में जो विजय का बीज फलता-फूलता है वह अन्तरतम तक को छू लेता है। इसीलिए आश्चर्य है कि तेरापंथ का संगठन कोमल धागे से बंधा हुआ है।

आश्चर्य स्वयं आश्चर्य होता है। मैं उसमें डुबकी लगाने को तैयार नहीं हूँ। मैं स्फटिक की मर्यादा को तोड़ आगे कैसे बढ़ूँ? प्रतिबिम्ब है तो उसे देखनेवाले अवश्य होंगे।*

* तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अवसर पर प्रदत्त वक्तव्य।

२३. जयाचार्य : वर्तमान के सन्दर्भ में

राजस्थानी भाषा राष्ट्रीय भाषाओं की सूची में अभी नहीं है। फिर भी उसका साहित्य बहुत विशाल है। उसमें अभिव्यक्ति की अद्भुत क्षमता है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा से उसका सीधा सम्बन्ध है। राजस्थानी के हजारों-हजारों शब्दों का मूल प्राकृत में खोजा जा सकता है। इसकी साहित्यिक श्रीवृद्धि में तेरापंथ धर्मसंघ का महत्त्वपूर्ण योग है। आचार्य भिक्षु, जयाचार्य और आचार्य तुलसी तथा अनेक मुनियों ने इस भाषा में विशाल साहित्य रचा है। जयाचार्य ने साढ़े तीन लाख श्लोक प्रमाण साहित्य की रचना की। पद्य और गद्य—दोनों में उन्होंने लिखा। उनके कुछ ग्रन्थ विशालकाय हैं। आगमों में सबसे बड़ा आगम सूत्र है—भगवती। उसका ग्रन्थमान सोलह हजार माना जाता है। अभयदेव सूरी ने संस्कृत में उस पर टीका लिखी। उसका ग्रन्थमान अठारह हजार है। जयाचार्य ने उस पर राजस्थानी भाषा में पद्यमय व्याख्या लिखी। उसका ग्रन्थमान साठ हजार है। उनका दूसरा विशाल ग्रन्थ है—उपदेशरत्नकथाकोष। उसमें लोककथाओं के साथ-साथ पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाएं भी संकलित हैं। उनका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है—भिक्षु दृष्टान्त। उसमें आचार्य भिक्षु के चार सौ संस्मरण संकलित हैं। संस्मरण-साहित्य की शृंखला में वह बहुत मूल्यवान है। अंग्रेजी समाचारपत्र 'पॉयनियर' में एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी, उसमें लिखा था—'प्रस्तुत ग्रन्थ विश्व साहित्य में एक दुर्लभ ग्रन्थ है।'

जयाचार्य के जीवन में तत्त्व-दर्शन और भक्ति का मणिकांचन योग है। कुछ लोग तत्त्ववेत्ता होते हैं, भक्त नहीं होते। कुछ लोग भक्त होते हैं, तत्त्ववेत्ता नहीं होते। जयाचार्य तत्त्ववेत्ता भी थे और भक्त भी थे। उन्होंने 'झीणीचर्चा', 'झीणोज्ञान', 'चर्चारत्नमाला' आदि ग्रन्थों में तत्त्ववाद

का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया। आपके भक्तिकाव्य बहुत जनप्रिय हैं। आपकी एक प्रसिद्ध कृति है—चौबीसी। उसमें चौबीस तीर्थकरों की स्तुति है। हजारों-हजारों लोग प्रातःकाल उसका पाठ करते हैं। जब उसका विभिन्न लयों में संगान होता है, तब पूरा वातावरण भक्तिमय बन जाता है। आचार्य भिक्षु जयाचार्य के इष्ट थे। उनके जीवन में जब कभी कोई कठिनाई आयी तब उन्होंने आचार्य भिक्षु की स्तुतियां रचीं। उनकी 'विघ्नहरण की ढाल' बहुत प्रसिद्ध है। शारीरिक, मानसिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विघ्नों के उपस्थित होने पर उसका स्मरण आज भी बड़ी श्रद्धा के साथ किया जाता है।

आचार्यवर मंत्रविद् थे। उनका इष्ट मंत्र था—'अ सि आ उ सा', 'अ भि रा शि को' और चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र की दूसरी गाथा।

वे ज्योतिर्विद् थे। सूर्यप्रज्ञप्ति खगोल विषयक सूत्र है। उन्होंने उसकी व्याख्या लिखनी शुरू की। सौ वर्ष का पंचांग बनाना प्रारम्भ किया। किन्तु कुछ व्यक्तियों का परामर्श मानकर उन्होंने उस कार्य को स्थगित कर दिया।

उन्होंने अनेक विधाओं में साहित्य लिखा। अनुशासन, मानसिक चिकित्सा, व्यवस्था, समतावाद, विनम्रता, मानव प्रकृति का विश्लेषण—ये उनके साहित्य के मुख्य प्रतिपाद्य रहे हैं। प्राकृतिक घटना और परिस्थिति पर भी उनकी लेखनी चलती रही। एक बार की घटना है, वे सुजानगढ़ में विराज रहे थे। नीचे रास्ते में दो कुत्ते आपस में लड़ रहे थे। दोनों आक्रमण की मुद्रा बनाए बहुत जोर-जोर से भौंक रहे थे। आसपास की शान्ति भंग हो रही थी। उस समय जयाचार्य का कविपुरुष बोल उठा—

नहीं ज्ञान अरु ध्यान, काम काज पिण को नहीं।

ते कूकर सम जाण, फिरै चरै कलहो करै॥

एक दूसरा प्रसंग है। जयाचार्य पदयात्रा कर रहे थे। गर्मी का मौसम। राजस्थान की गर्मी। सूर्य का परम अनुग्रह। रेतीले टीले। सौर-ऊर्जा का उपयुक्त क्षेत्र। धरती ही नहीं, आदमी भी तप उठता है। चारों ओर धूप ही धूप। आवश्यकता हुई विश्राम की। छांह की खोज शुरू हुई। जहां दृष्टि जाए, वहां धूली ही धूली। धूली का एकछत्र

साम्राज्य। वृक्ष का दर्शन सत्य की भांति दुर्लभ है। बहुत खोजने पर भी दिखाई नहीं देता। पर वह असफल नहीं होता, जो निरंतर खोज में संलग्न होता है। आखिर एक वृक्ष दृष्टिगोचर हुआ। वह धी खेजड़ी। राजस्थान का कल्पतरु। वह साग के लिए सांगरी देता है, बच्चों को खाने के लिए मीठे-मीठे 'खोखा' देता है और उसकी छोटी-छोटी पत्तियां धूप में तपे हुए राही को छांह देती हैं। खेजड़ी के नीचे बैठने वाला छांह का मूल्य जानता है। कल्पतरु के नीचे बैठने वाला छांह का मूल्य नहीं जान पाता। जहां धूप नहीं, वहां छांह का मूल्य कैसे आंका जा सकता है? जयाचार्य ने खेजड़ी के नीचे विश्राम किया। उन्होंने छांह की सुखद अनुभूति का एक दोहे में चित्रण किया—

छोटी सी इक खेजड़ी, गहरी ठंडी छांह।
जीत आदि मुनि संचर्या, विश्रामो तिहां पाया॥

जयाचार्य का जीवन रसहीन नहीं था। उनके जीवन में विनोद के दर्शन होते हैं और उसके पीछे दिखाई दे रहे हैं ये सब—प्रसन्नता, ताम्रजस्य और प्रेरणा। ऋषिराय जयाचार्य के गुरु थे। उनका शरीर स्वस्थ था। उन्हें तैल-मर्दन से बड़ी अरुचि थी। कोई साधु कारणवश तैल-मर्दन करता, वह उन्हें अच्छा नहीं लगता। संवत् १६०३ में वे चातुर्मास-प्रवास जयपुर में कर रहे थे। एक दिन घोड़े ने टक्कर लगाई। हाथ की हड्डी उतर गई। चातुर्मास संपन्न होने पर भी विहार नहीं हो सका। चैत्रमास तक वहीं रुकना पड़ा। पुराने जमाने में अस्थि-पीड़ा में तैल-मर्दन एक मुख्य उपचार था। उसका प्रयोग चल रहा था। चातुर्मास संपन्न होने पर साधु-साधवियों ने आचार्यप्रवर के दर्शन किए। जयाचार्य उस समय युवाचार्य अवस्था में थे। उन्होंने भी आचार्यवर के दर्शन किए। ऋषिराय तैल-मर्दन करवा रहे थे। जयाचार्य ने वह देखा और तत्काल विनोद की भाषा में बोले—

कोई तेल लगाई आवतो, करता तिण स्यूं तर्क।
इक दिन इसडो आवियो, गुरु रहै तेल में गर्क॥

ग्रहणशील व्यक्तित्व

व्यक्तित्व के विकास में सबसे बड़ी बाधा है—अहंकार। वह अच्छाइयों को स्वीकारने में बाधा डालता रहता है। जयाचार्य बहुत विनम्र थे। उन्होंने जहां कहीं अच्छाई देखी, वहीं से उसे लेने का प्रयत्न किया। उन्हें संस्कृत का विद्यादान मिला था एक विद्यार्थी से। दिन में वह संस्कृत पढ़ता था। रात के समय अपना पढ़ा हुआ पाठ आचार्यवर को सुना देता था। ढोली और लोकगीतों के गायकों से उन्होंने रागिनियां सीखीं। उनकी गीतिकाओं में सैकड़ों लोकगीतों और रागिनियों का प्रयोग मिलता है। उनके विद्यागुरु थे मुनि हेमराजजी। उनके प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करते हुए आचार्यवर ने लिखा—मुनिवर! मैं बिन्दु था। आपने मुझे सिन्धु बना दिया।

सम्प्रदायातीत धर्म के प्रवक्ता

सम्प्रदायातीत धर्म के मंत्रदाता थे भगवान् महावीर। उस मंत्र का आचार्य भिक्षु ने पुनरुच्चारण किया। जयाचार्य ने उस घोष को प्राणवान् बनाया। वे सम्प्रदायातीत धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे तब उनके सामने अनेक प्रश्न उपस्थित हुए। प्रत्येक सम्प्रदाय के पास अपने सम्प्रदाय से भिन्न लोगों के लिए एक शब्दावली गढ़ी हुई है। उसके शब्द हैं—नास्तिक, मिथ्यादृष्टि अधर्मी, काफिर आदि-आदि। एक भाई ने पूछा—आप मिथ्यादृष्टि के आचरण को धर्म कैसे बतलाते हैं? उसे मोक्ष का हेतु कैसे बतलाते हैं? आचार्यवर ने कहा—शील, संतोष, दया और क्षमा—ये मोक्ष के हेतु हैं। भाई बोला—ये गुण अच्छे हैं, पर मिथ्यादृष्टि के हैं, इसलिए अच्छे नहीं हैं। खीर अच्छी होती है, पर भंगी की खीर कौन खाना चाहेगा? आचार्यवर ने कहा—भंगी की खीर मत कहो। यह भंगी का रुपया है, जो कहीं भी नहीं अटकता। सब लोग उसे स्वीकार कर लेते हैं। प्रश्न पूछने वाला था दिल्ली का एक नागरिक कृष्णचन्द्र माहेश्वरी। जयाचार्य का उत्तर उसके अन्तःकरण में पैठ गया। धर्म संप्रदाय से परे है, यह विश्वास पैदा हो गया।

जयाचार्य योगी थे। उन्होंने ध्यान के विषय में केवल ग्रन्थ ही नहीं लिखे, किन्तु ध्यान की गहराइयों में डुबकियां भी लगाई थीं। हमारा

१३४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

व्यक्तित्व रंगों से बहुत प्रभावित होता है। रंग की पसंद और नापसंद के आंधार पर पूरे व्यक्तित्व की व्याख्या की जा सकती है। प्रेक्षाध्यान की प्रणाली में अनेक प्रयोग हैं। उनमें एक प्रयोग है—रंग-ध्यान का। पारिभाषिक शब्दावली में उसे लेश्याध्यान कहा जाता है। पश्चिमी जगत् में रंग-ध्यान पर बहुत कार्य हो रहा है। कलर-थेरापी और कलर-मेडिटेशन—इन विषयों पर काफी साहित्य लिखा जा रहा है। जयाचार्य ने रंग-ध्यान के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं दी हैं। वे आज के इस बहुचर्चित विषय में बहुत मूल्यवान् हैं।

बहुआयामी व्यक्तित्व की अनेक दिशाओं में चैतन्य की ज्योति को प्रज्वलित और मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करने वाले उस प्रज्ञापुरुष के प्रति विनम्र वंदना।*

* जयाचार्य निर्वाण शताब्दी पर प्रदत्त वक्तव्य।

२४ अनुशासन के मंत्रदाता : जयाचार्य

जयाचार्य की निर्वाण शताब्दी 'अनुशासन वर्ष' के रूप में मनाई जा रही है। वे पहले स्वयं शासित और फिर अनुशास्ता थे। यह उनके जीवन का सूत्र अध्यात्म का सूत्र है। वर्तमान चेतना को इस सूत्र की बहुत अपेक्षा है। इसलिए आचार्यश्री तुलसी ने अनुशासन वर्ष को घोष दिया है—'निज पर शासन, फिर अनुशासन—पहले अपने मन पर, अपनी इच्छाओं और वृत्तियों पर शासन करो, फिर दूसरों पर अनुशासन करना। महामात्य कौटिल्य ने राजा के लिए इन्द्रियजयी होना आवश्यक बतलाया है। उनका चिन्तन था कि यदि शासक इन्द्रियजयी नहीं होता है तो वह प्रजा के लिए राहु-केतु बन जाता है। सभी दिशाओं से एक स्वर गूंजता है—अनुशासनहीनता बढ़ रही है, अनैतिकता बढ़ रही है, समाज का क्या होगा? राष्ट्र का क्या होगा? समस्या का चित्रण करने से समस्या का समाधान नहीं होता। उसके लिए उपाय खोजना जरूरी होता है। शिक्षा एक उपाय है अनुशासन को लाने का, पर वह स्वयं दलीय राजनीति के दलदल में फंसी हुई है। रेडियो, टेलीविजन और समाचारपत्र—ये सब विचार-परिवर्तन के माध्यम हैं। पर ये भी क्या करें? इनका काम है घटनाओं को प्रसारित करना। जब घटनाएं ही हिंसा, आक्रमण, उपद्रव, बलात्कार और लूट-खसोट की होती हैं, तो उन्हें प्रसारित किए बिना ये कैसे रह सकते हैं? इन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्तियां मनुष्य को अनुशासनहीन बनाए बिना कैसे रह सकती हैं? अनुशासनहीनता का एक चक्र है। पूरा समाज उसकी पकड़ में है।

जयाचार्य आचार्य भिक्षु के भाष्यकार थे। आचार्य भिक्षु ने साधन-शुद्धि पर बहुत विचार किया था। हिन्दुस्तान के दो हजार वर्ष के दार्शनिक इतिहास में दो ही व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिन्होंने साधन-शुद्धि पर

१३६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

अधिक विचार किया—एक आचार्य भिक्षु और दूसरे महात्मा गांधी। साधन-शुद्धि का सिद्धान्त हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त है। जयाचार्य ने हृदय-परिवर्तन पर बहुत बल दिया। उन्होंने कहा—हृदय को बदले बिना अनुशासन का विकास नहीं हो सकता। हृदय-परिवर्तन की बात सुनने में बहुत मीठी लगती है। पर क्या यह स्वयं एक उलझन नहीं है? क्या हृदय बदल सकता है? मनुष्य के स्वभाव को बदलना सबसे कठिन बात है। इसीलिए यह मान्यता बन गई है कि स्वभाव को नहीं बदला जा सकता।

हृदय-परिवर्तन अनुशासन को विकसित करने का एक उपाय है। हम निरुपाय नहीं हैं, यह प्रसन्नता की बात है। पर वह कैसे हो सकता है, इसे वैज्ञानिक भाषा में समझना जरूरी है। वैज्ञानिक शब्दावली में हृदय-परिवर्तन का अर्थ है—जैविक रसायनों का परिवर्तन। ये रसायन हमारे व्यवहार और आचरण को नियंत्रित करते हैं। इन्हें बदले बिना अनुशासनहीनता की समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता। श्वेत अश्वेतों पर आक्रमण कर रहे हैं। सवर्ण असवर्ण जातियों से घृणा कर रहे हैं। कभी जातीयता समस्या बनकर उभरती है, तो कभी साम्प्रदायिकता। ये सब अनुशासनहीनता की चिनगारियां हैं, जो समय-समय पर उछलती रहती हैं। पूरा समाज इनकी लपेट में ताप और संताप का अनुभव करता है। क्या ये जातीय और साम्प्रदायिक उपद्रव अनुशासनहीनता के कारण हो रहे हैं? गहरे चिन्तन के बाद इन्हें अनुशासनहीनता के कारण नहीं माना जा सकता। ये सब अनुशासनबद्धता के कारण हो रहे हैं। जाति या नस्ल के नाम पर एक अनुशासन चल रहा है। उससे अनुशासित लोग जातीय उपद्रव कर रहे हैं। सम्प्रदायों का भी अपना अनुशासन है। कुछ सम्प्रदाय उपद्रवों को अनावश्यक नहीं मानते। इसीलिए साम्प्रदायिक उपद्रव फैलते हैं। सही अर्थ में आदमी अनुशासनहीन नहीं है। उसका व्यवहार और आचरण किसी न किसी अनुशासन से प्रतिबद्ध है। यह अलग प्रश्न है कि आज जो अनुशासन की मांग है, उसकी भाषा क्या है, उसका अर्थ क्या है, उसके पीछे चिन्तन क्या है?

अनुशासन का एक अर्थ है—दूसरों के आदेश का स्वीकार और

अनुपालन। उसका दूसरा अर्थ है—दायित्व-बोध। पहला अर्थ बहुत विवादास्पद है। उसी का आदेश मान्य हो सकता है जिसमें क्षमता, समता और ममता की त्रयी विद्यमान हो। कोई बड़ा-बूढ़ा है और मुखिया बना हुआ है, इसीलिए उसका आदेश उचित है, यह प्रश्न बहुत प्रबुद्ध मानस को झकझोरे बिना नहीं रहता। पहले अर्थ में यदि अनुशासन की मांग है तो वह केवल पुरानी पीढ़ी की मांग है। वह नयी पीढ़ी की मांग नहीं हो सकती। अनुशासन की मांग पुरानी और नयी—दोनों पीढ़ियों की समस्वर में होनी चाहिए। अनुशासन पुरानी पीढ़ी के लिए भी जरूरी है और नयी पीढ़ी के लिए भी जरूरी है। यह अपने-अपने लिए जरूरी है, एक-दूसरे के लिए जरूरी नहीं है।

जयाचार्य ने इस सचाई पर बहुत बल दिया कि जिसे अनुशासन की प्रतिष्ठा करनी हो, उसे स्वयं अनुशासित होना चाहिए। आदमी कहने से जितना नहीं सीखता उतना व्यवहार और आचरण से सीखता है। बड़े-बूढ़ों का आचरण और व्यवहार यदि अनुशासित होता है तो नयी पीढ़ी को अनुशासन की प्रेरणा देने की बहुत आवश्यकता नहीं है। वह उसे स्वयं सीख जाती है। किन्तु आश्चर्य है कि जो स्वयं अनुशासन से दूर रहकर बच्चों में अनुशासन लाना चाहते हैं वे इस सचाई को भूल जाते हैं कि बच्चे तुम्हारी बात कम मानेंगे, तुम्हारे व्यवहार को ज्यादा मानेंगे। जयाचार्य की दृष्टि में अनुशासन वही कर सकता है—

- जो समय पर मौन रहना जानता है और समय पर बोलना जानता है।

- जो क्षमा करना भी जानता है और आंख दिखाना भी जानता है।

सभ्य और प्रगतिशील समाज के दो लक्षण होते हैं—अनुशासन और विनम्रता। क्रोध और अहंकार—ये मानवीय प्रकृति के स्वाभाविक गुण हैं। ये उच्छृंखल होते हैं, तब अनुशासन और विनम्रता का विकास होता है। सही अर्थ में अनुशासन का अर्थ है—अपने-अपने क्रोध और अहंकार का परिष्कार करना। जयाचार्य स्वयं बहुत विनम्र थे। कृतज्ञता और गुणग्राहिता का भाव उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था। उन्होंने अपने विद्यागुरु के प्रति जो विनम्र व्यवहार किया, उसे आदर्श माना जा सकता है।

१३८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन की परम्परा का सूत्रपात किया था। जयाचार्य इसी परम्परा में पले-पुसे थे। अनुशासन उन्हें विरासत में मिला था। आचार्य ऋषिराय उनके गुरु थे। वे बहुत ऋजुमना और मृदु प्रकृति के थे, किन्तु अनुशासन के क्षेत्र में बहुत दृढ़ थे। एक मुनि को वस्त्र की सिलाई करनी थी। वह गृहस्थ के घर से सूई ले आया। सूई लाए या धागा लाए या और कुछ भी लाए, व्यवस्था है कि आचार्य या अग्रणी की आज्ञा लेकर लाए। वह मुनि आज्ञा लिये बिना सूई ले आया। ऋषिराय को पता चला। उन्होंने पूछा—तुम आज्ञा लिये बिना सूई कैसे ले आए? वह बोला—सूई के लिए क्या आज्ञा लेनी थी? आचार्यवर ने कहा—प्रश्न सूई और चाकू का नहीं है, प्रश्न आज्ञा का है। सूई छोटी हो सकती है पर अनुशासन का भंग छोटा नहीं होता, यह कहते हुए ऋषिराय ने उसका संघ से संबंध-विच्छेद कर दिया। जयाचार्य इस घटना के साक्षी थे। वे अनुशासन का बहुत सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करते रहते थे। अनुशासन के तटबंध में एक छोटा-सा छिद्र बड़ा रूप ले सकता है और तटबंध को तोड़ सकता है, इस संचाई से वे परिचित थे। तेरापंथ के द्वितीय आचार्य भारमलजी स्वामी ने अपने उत्तराधिकार का पत्र लिखा। उसमें उन्होंने दो नाम लिख दिए—खेतसी तथा रायचन्द। जयाचार्य उस समय सत्रह वर्ष की अवस्था में थे। एक तरुण मुनि के रूप में अपना अध्ययन और साधना कर रहे थे। उन्हें इस बात का पता चला। वे आचार्य भारमलजी के पास गए। वंदना कर, बद्धांजलि हो, विनम्र स्वर में बोले—गुरुदेव! आपने आचार्य पद के लिए दो नाम लिखे हैं। इस पर आप पुनर्विचार करें। ये दो नाम अनुशासन और व्यवस्था के लिए उलझन पैदा कर सकते हैं। आचार्य ने सहज-सरल भाव से उत्तर दिया—जीतमल! खेतसी मामा है और रायचन्द उसका भानजा। इसलिए कोई उलझन पैदा नहीं होगी। मुनि जीतमल ने प्रार्थना की—मामा-भानजा या पिता-पुत्र कोई भी हों, जहां दो होंगे वहां उलझन की संभावना होगी। इसलिए आचार्यपद के लिए एक ही नाम का उल्लेख होना चाहिए। आचार्यवर ने तरुण मुनि का सुझाव स्वीकार कर लिया और मुनि खेतसीजी का नाम वहां से हटा दिया।

जयाचार्य ने अनुभव किया कि संविभाग और समतापूर्ण व्यवहार के

बिना अनुशासन को चिरजीवी नहीं बनाया जा सकता। विषमतापूर्ण व्यवहार मनुष्य को अनुशासनहीन बनाता है। उन्होंने साधु-संस्था में संविभाग और समतापूर्ण व्यवस्था के धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। किसी साम्यवादी जीवन-प्रणाली में भी इतनी संविभाग और समतापूर्ण व्यवस्था नहीं है, जितनी तेरापंथ की साधु-संस्था में है।

एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा—तेरापंथ धर्म संघ कब तक चलेगा? उन्होंने उत्तर में कहा—पदार्थ के प्रति मूर्च्छा नहीं बढ़ेगी, आचारनिष्ठा और सत्यनिष्ठा बनी रहेगी तथा आचार्य और साधु अनुशासन के प्रति जागरूक रहेंगे, तब तक यह धर्मसंघ चलेगा।

अनुशासन को संघीय जीवन का आधार नहीं कहा जा सकता, किन्तु निश्चित ही वह सुरक्षा-कवच है। चरित्रहीन अनुशासन श्मशान के दीप की भांति प्रकाश देता है, साथ-साथ में भय भी पैदा करता है। चरित्र-संपन्न अनुशासन मन्दिर के दीप की भांति प्रकाश और पवित्रता—दोनों का विकिरण करता है।

२५. आचार्य तुलसी की आलोक रेखाएं

आचार्य तुलसी भारतीय आत्मा के उज्ज्वल प्रतीक हैं। वे जैन मुनि हैं। निवृत्ति की धारा के महान् समर्थक हैं। फिर भी वे न अकर्मण्य हैं और न निराशावदी। उनकी कर्मण्यता बहुत आश्चर्य में डाल देती है। वे अनेक बार अपने खाने और सोने का समय भी दूसरों के लिए अर्पित कर देते हैं। उनका आशावाद बहुत बार असफलता को भी सफलता में परिणत कर देता है। उनकी भाषा में—‘अन्तरतम की हित-साधना की प्रवृत्ति का नाम ही निवृत्ति है।’ संन्यास को वे पलायन नहीं किन्तु आन्तरिक चैतन्य के विकास के लिए मौन व एकान्त परिस्थिति मात्र मानते हैं।

अणुव्रत आन्दोलन का लक्ष्य

उनका कार्यक्षेत्र न केवल वैयक्तिक है और न केवल सामाजिक। वे सापेक्षवाद में विश्वास करते हैं। इसलिए व्यक्ति और समाज को न सर्वथा भिन्न मानते हैं और न सर्वथा अभिन्न, किन्तु भिन्नाभिन्न मानते हैं। उन्होंने व्यक्ति और समाज—दोनों की शुद्धि के लिए अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। स्वतंत्र भारत के शैशव में इस आन्दोलन ने चरित्र-विकास की जो प्रेरणाएं दी हैं, जन-मानस को नैतिक आधार दिया है और बढ़ती हुई अनैतिकता के विरोध में जो क्रान्ति की है, वह स्वयं में एक महान् इतिहास है।

गुरुदेव ने अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से जीवन के सभी क्षेत्रों का स्पर्श किया है। वे भौतिक विकास की उपेक्षा सामाजिक प्राणी के लिए संभव नहीं मानते। उन्होंने कहा— ‘भौतिक विकास के साथ नैतिक विकास का संतुलन बना रहे। आज जो भय, संदेह और अशांति

है, उसका हेतु अध्यात्म-पक्ष की दुर्बलता है। अणुव्रत-आन्दोलन का लक्ष्य है आध्यात्मिक चेतना को जागृत करना।’

जीवन का क्रियात्मक पक्ष : संयम

युग का प्रवाह विज्ञान की ओर है। बुद्धिवाद का स्थान सर्वोपरि है। फिर भी जटिलताएं बढ़ रही हैं। मनुष्य उलझ रहा है। सहज ही प्रश्न होता है—ऐसा क्यों? इसका समाधान गुरुदेव ने एक छोटे वाक्य में दिया है। वह यह है—‘आज का मनुष्य अज्ञ नहीं किन्तु मूढ़ है।’ मोह से लिप्त ज्ञान-विज्ञान मनुष्य के लिए वरदान नहीं होता। इसीलिए गुरुदेव ने सुझाया कि प्रत्येक व्यक्ति संयमी बने। कुछ लोगों की मान्यता रही—संयम जीवन का निषेधात्मक पक्ष है, उससे जीवन का विकास नहीं होता। गुरुदेव ने अपना अनुभव इस भाषा में प्रस्तुत किया—‘मैं संयम को जीवन का सर्वोपरि क्रियात्मक-पक्ष मानता हूँ। असंयम स्वीकारात्मक-पक्ष है, इसलिए वह जीवन की महानता का ध्वंसात्मक रूप है। संयम अस्वीकारात्मक-पक्ष है, इसलिए वह जीवन की महानता का निर्माणात्मक रूप है।’

समाज और राज्य का आधार : नैतिक चेतना

समाज, राज्य और धर्म-संप्रदाय—ये तीन महान् संस्थान हैं। इनकी सम्यक् स्थिति पर ही अरबों व्यक्तियों का भाग्य निर्भर है। उन्हें कर्तव्य-बोध देते हुए गुरुदेव ने कहा—‘कुछ सामाजिक प्रथाएं आज बन्धन बन गई हैं। उनसे जकड़े हुए लोग नैतिकता को तिलांजलि दे रहे हैं। इस स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि सभी समाजों की समान स्थिति के लिए एक समान आचार-संहिता बने और वह समाज के लोगों द्वारा ही बने। उसका आधार नैतिक चेतना को उत्तेजना मिले, यह होना चाहिए।’

राजनीति की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के प्रति दुःख प्रकट करते हुए गुरुदेव ने सुझाया—‘राजनयिक एक सामान्य आचार-संहिता को मान्य करें और सभी राजनयिक दलों के प्रतिनिधियों का एक ऐसा संस्थान हो, जो आचार-संहिता की साधारण बातों के पालन और अपालन का सह-विमर्श कर सके और अपने-अपने दल को चेता सके।’

१४२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

सांप्रदायिक सद्भाव के पांच सूत्र

आचार्यश्री तुलसी एक धर्म-संप्रदाय के आचार्य हैं। फिर भी साम्प्रदायिकता पर उन्होंने सदा प्रहार किए हैं। धार्मिक लोगों की दुर्बलता को वे स्वयं स्वीकार करते हैं। वे बहुधा कहते हैं—धार्मिकों में अभेद की अपेक्षा भेद खोजने की वृत्ति अधिक है। धर्म की व्याख्या भिन्न होने पर भी हमें असहिष्णु नहीं होना चाहिए। दूसरे धर्म या सिद्धांत के प्रति असहिष्णु होने वाला सबसे पहले धर्म को नष्ट करता है। सम्प्रदाय-मैत्री के लिए समान आचार-संहिता होनी चाहिए। गुरुदेव ने अपने विश्वास को समन्वय के पांच सूत्रों में अभिव्यक्ति दी। वह पंचसूत्री कार्यक्रम समन्वय की दृष्टि से आज भी महत्वपूर्ण बना हुआ है—

- मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर लिखित या मौखिक आक्षेप न किया जाए।
- दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
- दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा तथा तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।
- कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।
- धर्म के मौलिक तत्त्व—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

विद्या भी खतरा है

गुरुदेव शिक्षा को बहुत आवश्यक मानते हैं पर अनुशासन और चरित्रविहीन शिक्षा को वे बहुत उपयोगी नहीं मानते। उन्होंने इस बात पर बल दिया—‘उच्च शिक्षा का अधिकारी वही माना जाए जो विनय, अनुशासन और संयम के प्रति निष्ठावान हो।’ अनुशासनहीनता की कटु अनुभूतियों के बाद अब शिक्षा-अधिकारियों में भी यह चिन्तन होने लगा है। गुरुदेव ने विद्यार्थी को संबोधित करते हुए कहा—‘चारित्रिक संतुलनविहीन विद्या भी खतरा है। विद्यार्थी को पहले चरित्रार्थी होना चाहिए, फिर विद्यार्थी। चरित्रार्थी विद्यार्थी न हो तो चल सकता है। इसमें

विशेष प्राप्ति नहीं है तो मूल में भूल भी नहीं है। किन्तु विद्यार्थी चरित्रार्थी न हो तो वह मूल में भूल है।

तेजस्विता का मूलमंत्र

युवक की भाषा में कहते हैं—‘आदमी शक्ति का पुंज है, क्या वह कभी बूढ़ा होता है? तुम मत मानो कि मैं बूढ़ा हो गया हूं, फिर देखो तुम कैसे बूढ़े होते हो? निराशा असमय में बूढ़ा बना देती है। आशावान् सदा युवक रहता है।’ वे अवस्था और जवानी का गठबन्धन स्वीकार नहीं करते। उनका मत है—जिस व्यक्ति में उत्साह, आशा और प्रसन्नता है, वह सत्तर वर्ष का होकर भी युवा है। जिसमें ये तत्त्व नहीं हैं, वह बत्तीस वर्ष का होकर भी बूढ़ा है।

गुरुदेव के उत्साह ने भावना को संपुष्टि दी है और भावना ने कर्म को। उनका धर्म-समन्वित कर्म उनकी तेजस्विता का मूल मंत्र है।*

* धवल समारोह पर प्रस्तुत निबंध।

२६. अमृत महोत्सव : अभिनन्दन

- अभिनन्दन इन शक्तिशाली कंधों का, जिन्होंने शासन संचालन का गुरुतर भार उठाया और आज भी अविश्रांत हैं।
- अभिनन्दन इन अमिताभ हाथों का, जिन्होंने पुरुषार्थ की प्रतिमा को आकार दिया, जिनकी वरद मुद्रा से मिला धर्मसंघ को प्राण, उदान, समान और अस्मिता का आदान।
- अभिनन्दन इन रक्ताभ पैरों का, जो अविश्रांत गति से चलते रहे हैं, जिनकी गति में प्रगति का प्रतिबिम्ब है।
- अभिनन्दन इन दीर्घ आयत आंखों का, जिनकी पारदर्शी दृष्टि से सुदूर भविष्य बन गया हमारे धर्मसंघ का वर्तमान।
- अभिनन्दन इन मस्तिष्कीय पटलों का, जिन्होंने बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास में संतुलन स्थापित किया, युग को नई दिशा और नई दृष्टि दी।
- अभिनन्दन है तेरापंथ का, जिसने तुम्हारे जैसे मानवता के मसीहा को जनता के लिए समर्पित किया।
- अभिनन्दन है पूज्य कालूगणी का, जिनकी दृष्टि ने भविष्य को वर्तमान में देखा।
- अभिनन्दन है जैन आचार्य का, जिसने जैन धर्म को जन-जन तक पहुंचाया, उसे एक नई पहचान दी और उसे दी जैनधर्म की प्रतिष्ठा।
- अभिनन्दन है तेरापंथ के आचार्य का, जिसने भिक्षुशासन को वह शक्ति, सौन्दर्य और गौरव दिया, जिसे सब सतृष्ण दृष्टि से निहार रहे हैं।
- अभिनन्दन है अणुव्रत के अनुशास्ता का। राष्ट्रीय चरित्र विकास

और नैतिक चेतना के जागरण में अणुव्रत आन्दोलन का योगदान एक ऐतिहासिक अभिलेख है।

- अभिनन्दन है प्रेक्षाध्यान के स्वप्नद्रष्टा का। प्रेक्षाध्यान—परोक्ष धर्म के प्रति संदेहशील मानस को प्रत्यक्ष धर्म की दीक्षा में दीक्षित करने वाला आस्था के अंकुरण का एक महान् प्रयत्न है।
- अभिनन्दन है युग प्रधान का, जिसने युग की भाषा को समझा और उसे शाश्वत की भाषा से परिचित कराया, परिवर्तन का मूल्यांकन किया और परिवर्तनीय में रहे अपरिवर्तनीय की प्राण प्रतिष्ठा की।
- अभिनन्दन है मनोबली आचार्य का, जिसके मनोबल की आधारभूमि है विधायक दृष्टिकोण और चिन्तन, रचनात्मक कल्पनाएं और प्रवृत्तियां। जिसने अपने कार्यों से प्रमाणित किया है कि विधायक दृष्टिकोण ही व्यक्ति को प्रगति शिखर पर ले जा सकता है।
- अभिनन्दन है वाग्बली आचार्य का, जिसकी वाणी में ओज है, सामर्थ्य है। जिसने अपनी वरदा वाणी के द्वारा असंख्य लोगों को नवजीवन दिया है।
- अभिनन्दन है कायबली आचार्य का, जिसके पुरुषार्थ और पराक्रम ने न केवल परिव्रजन का कीर्तिमान स्थापित किया है, अनेक स्वप्नों को साकार किया है।
- अभिनन्दन है साहित्यसागर के मंथनकार का, आगम सम्पादन और सामयिक साहित्य की अमृत बूंदों ने मरणधर्मा मनुष्य को सींचा है। उसमें जगी है अमृतत्व की अनुभूति।
- अभिनन्दन है महान् व्यक्तित्व का। विशिष्ट चिंतन पद्धति, सहज स्वभावं, अदम्य संकल्पशक्ति, अगम्य मनोरथ, प्रगतिशील विचार, नैसर्गिक प्रसन्नता, सहज सिद्धयोग, परिवर्तन की क्षमता, संघर्ष में अप्रकम्प, संघर्ष को निमंत्रण और उससे शक्ति का संवर्धन, सहिष्णुता— ये हैं व्यक्तित्व को महानता देने वाले तत्त्व। इनकी उपलब्धि तुम्हारे व्यक्तित्व की महानता का स्वयंभू साक्ष्य है।
- महान् आचार्य! इन पांच दशकों में तुमने तेरापंथ धर्मसंघ, पूर्वज आचार्यों और विकासशील परंपरा की जिस समर्पणभाव से सेवा की है, वह अपूर्व, अतुलनीय और अमाप्य है। उसके लिए चुतुर्विध :

१४६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरेभ

धर्मसंघ कृतज्ञभाव से श्रद्धाप्रणत होकर तुम्हारी वंदना और अभिनंदना कर रहा है।

• इस अमृत महोत्सव की मंगल बेला में यह मंगल भावना कर रहा है—

संघपुरुष हो चिरायुः

संघशास्ता हो चिरायुः

और दोहरा रहा है अपना समर्पण। उस संवेदनशील पुष्प को स्वीकार कर कृतार्थ करो।*

* २२ सितम्बर १९८५, आमेट, (राजस्थान) में आचार्य श्री तुलसी के पचास वर्षीय शासन काल की सम्पन्नता के अवसर आयोजित अमृत महोत्सव के सन्दर्भ में पूरे संघ द्वारा समर्पित अभिनंदन पत्र।

२७. प्रज्ञा की प्रतिष्ठा का प्रयत्न

आज मैं वक्ता नहीं किन्तु श्रोता बन बैठा हूँ, सुन रहा हूँ। मेरे कानों में शब्द टकरा रहे थे। मैं नहीं कह सकता कि ये शब्द मेरी आत्मा तक टकराएँ या नहीं टकराएँ और शब्द वेचारे वहाँ तक पहुँच भी कैसे सकते हैं, नहीं पहुँच पाएँगे। कुछ ऐसी स्थिति बन गई कि मैं न तो कभी स्वयं के लिए स्थितप्रज्ञ होने के लिए दावा कर सकता हूँ और न महाप्रज्ञ होने का दावा कर सकता हूँ और न मैंने किया है। किन्तु घटना घटित होती है और वह मुझे तक पहुँच जाती है। बहुत सारी घटनाएँ पहुँच ही नहीं पातीं। बड़ा अजीब हुआ कि मुझे युवाचार्य बना दिया गया। महीनों तक और शायद आज तक भी कभी-कभी विस्मृति होती है और मुझे नहीं याद रहता कि मैं क्या हूँ, कौन हूँ। फिर सोचना पड़ता है, कि आखिर गुरुदेव ने जो पद दिया है ठीक उसकी गरिमा के अनुरूप मुझे औपचारिक व्यवहार भी निभाना होगा।

प्रारंभ से मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा और मैंने दर्शन को बौद्धिक व्यायाम के रूप में स्वीकार नहीं किया किन्तु अनुभव के स्तर पर चेतना के जागरण को दर्शन माना और मानता हूँ कि जब तक दर्शन की चेतना नहीं जागती तब तक कोरी चेतना सत्य तक नहीं ले जाती। बीच में अवरोध पैदा करती है। पहले-पहले लोग मुझे पंडित भी कहा करते थे। उनसे कहता कि यह मत कहो, क्योंकि पंडित से बढ़कर इस दुनिया में और कोई खतरनाक आदमी नहीं है। सबसे बड़ा खतरनाक आदमी होता है—पंडित। दलाल खतरनाक होता है। चाहे व्यापार के, चाहे राजनीति के और चाहे धर्म के क्षेत्र में; ये जितने बिचौलिये हैं, दलाल हैं, वे ज्यादा खतरनाक होते हैं। पंडित वह होता है जो बिचौलिया होता है। मैं अपने आपको कभी पंडित नहीं मानता और न मानने को तैयार हूँ।

१४८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

मुझे आचार्य तुलसी का योग मिला। बचपन से, विद्यार्थी जीवन से, मुनि बनने से पहले और उनका एक ऐसा आशीर्वाद कि मैं संप्रदाय के साथ जुड़ा नहीं। संप्रदाय को मैं आवश्यक मानता हूँ। नदी का जल तटों के बीच में बहे, इसे आवश्यक मानता हूँ। किन्तु जल जल होता है उसे कभी बांधा नहीं जा सकता। जल की निर्मलता के स्वभाव को कभी रोका नहीं जा सकता। मेरे मन में दर्शन की भावना बचपन से ही जागती रही और मैं बुद्धि की अपेक्षा अनुभव को जगाने में प्रयत्नशील रहा। एक बार अहंकार ने बुद्धि से कहा—“अनुभव को तुम मत जगाओ। सोया पड़ा रहने दो। यह अनुभव का परम आनन्द जब जग जायेगा तो न मैं बच पाऊँगा और न तुम (बुद्धि) बच पाओगी और न संसार ही बच पाएगा। हम सब समाप्त हो जाएंगे इसलिए इसे सोया रहने दो।

मुझे स्मरण है कि हमने आगम-संपादन का काम शुरू किया। गुरुदेव ने कहा—बहुत बड़ा दायित्व हम अपने कंधों पर ले रहे हैं, पर एक बात का हमें ध्यान रखना होगा कि आगमों के संपादन में, व्याख्या में, टीका में, टिप्पणियों में और समीक्षात्मक अध्ययनों में, कभी भी संप्रदाय बीच में नहीं आना चाहिए। हमारी सांप्रदायिक मान्यता अगर इससे विपरीत पड़ती है तो हम फुटनोट में दे सकते हैं कि यह हमारी पारंपरिक मान्यता रही है। जब हम वैज्ञानिक युग में संपादन का काम कर रहे हैं तो पूर्ण तटस्थ और आधारों के साथ न्याय करने वाला कार्य करना चाहिए। मैं मानता हूँ कि मेरे जीवन का वह दिन और वह क्षण एक अमूल्य क्षण था कि मुझे संप्रदायातीत दृष्टिकोण मिला।

परिचित साहित्यकार, विचारक और राजनीति के भी उच्च व्यक्ति बार-बार पूछते रहे कि आपको इस संप्रदाय में रहने से कोई कठिनाई का अनुभव नहीं होता। मैंने रामधारी सिंह दिनकर से भी डॉ. लोहिया से भी, और भी कई मित्रों से इस भाषा में कि आचार्य तुलसी जैसा विशाल नेतृत्व मुझे नहीं मिलता तो शायद आपकी बात पर मुझे सोचना पड़ता। और न जाने मैं किस स्थिति में होता। मैं जो भी बात सोचता हूँ, वह इतनी व्यापक और उदार दृष्टि से सोचता हूँ कि गुरुदेव हर बात का समर्थन कर देते हैं। इसलिए मुझे कोई कठिनाई का अनुभव नहीं

होता। मैं मानता हूँ कि जब व्यक्ति में सत्य की निष्ठा, सत्य की श्रद्धा और विश्वास जाग जाते हैं तो सब कुछ घटित हो जाता है। अभी बहुत ठीक कहा गया कि व्यक्ति बंधा होता है। बिल्कुल नहीं छूट पाता। बड़े बंधन से बंध जाता है तो उसके सारे छोटे बंधन की इकाइयां टूट जाती हैं। एक ऐसा बंधन मुझे मिला, मैंने देखा कि जब तक धार्मिक लोग अध्यात्म की सीमा में नहीं जाते, तब तक न तो उन्हें धर्म मिलता है, न उन्हें आत्मसंतोष मिलता है, केवल, उन्हें लड़ाइयां, झगड़े और कलह मिलता है। झगड़ा चल रहा है, धर्म नहीं चल रहा है। हमने प्रयत्न किया अध्यात्म में जाने का।

आज हमें इस बात का गर्व है कि अध्यात्म के क्षेत्र में आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में जो काम हुआ है, आज वह सर्वमान्य हो गया है—जैन-अजैन, हिन्दू-मुलमान-ईसाई का प्रश्न ही समाप्त हो गया। हमारे सामने केवल आदमी रहा। आदमी ही नहीं रहा—चैतन्य रह गया। आदमी ही समाप्त हो गया। आदमी रहता है तो भी विग्रह खड़ा होता है, फिर पुरुष और स्त्री का संघर्ष खड़ा हो जाता है। वह भी समाप्त हो गया और एक प्रकार से हम भूल गये सारी बातों को, इतना भुलक्कड़ शायद ही कोई आदमी होता होगा।

मैं मानता हूँ—स्मृति जीवन की यात्रा को चलाने के लिए बहुत आवश्यक तत्त्व है तो विस्मृति भी जीवन की यात्रा नहीं, किन्तु सत्य की परम यात्रा के लिए एक बहुत बड़ा तथ्य है। हम स्मृति और विस्मृति का योग नहीं जानते। हम संतुलन करना नहीं जानते इसलिए परम सत्य की यात्रा में प्रस्थान नहीं कर सकते। मुझे प्रसन्नता है कि आचार्य तुलसी ने मुझे एक ऐसा अभियान दिया और पहले ऐसा अलंकरण दिया जो बुद्धि से जुड़ा हुआ नहीं है। प्रज्ञा अलग बात होती है, बुद्धि अलग बात होती है। महर्षि पतंजलि ने कहा—ऋतंभरा प्रज्ञा! उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् महावीर के लिए एक विशेषण आता है—महाप्रज्ञ! महाप्रज्ञ कोई पढ़ा हुआ आदमी नहीं होता। विद्वान् आदमी नहीं होता। आज के विश्वविद्यालय की डिग्री का धारक व्यक्ति नहीं होता। मैं तो ऐसा हूँ कि विश्वविद्यालय की बात तो छोड़ दूँ—पहली कक्षा का भी प्रमाण पत्र नहीं। फिर कैसे महाप्रज्ञ हो सकता है कोई! मैंने पाया कि प्रज्ञा जागती

१५० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

है तो वह अध्यात्म के द्वारा जागती है, पढ़ने से नहीं जागती। ठीक कहा गया कि हर आदमी महाप्रज्ञ बन सकता है।

गुरुदेव स्वयं कहते हैं—ये बहुत समर्पित हैं। मैं आपको सच बतलाऊं कि मैं किसी भी व्यक्ति के प्रति समर्पित नहीं हूँ। न महावीर के प्रति, न आचार्य भिक्षु के प्रति और न आचार्य तुलसी के प्रति। मुझसे पूछा कि आप किसको मानते हैं। मैंने कहा—मैं अपने आपको मानता हूँ, किसी को नहीं मानता। क्या आप भगवान् महावीर को नहीं मानते? नहीं मानता। आचार्य तुलसी को नहीं मानते? बिल्कुल नहीं मानता। बड़ी अटपटी बात है, कहीं अनर्थ न हो जाए। बहुत खतरनाक बात है। बड़े आश्चर्य में पड़े कि यह क्या बात है! मैंने कहा—भगवान् महावीर को मैं मानता हूँ, इसका निर्णय मैंने किया या भगवान् महावीर ने किया? आचार्य भिक्षु को मैं मानता हूँ। इसका निर्णय मैंने किया या आचार्य भिक्षु ने किया। मैं आचार्य तुलसी को मानता हूँ इसका निर्णय मैंने किया या आचार्य तुलसी ने किया। वे निर्णय करते तो सारी दुनिया को ही अपना शिष्य बना लेते। यह मेरा अपना निर्णय है कि मैं आचार्य तुलसी को अपना गुरु मानता हूँ तो वास्तव में गुरु मैं रहा या आचार्य तुलसी रहे।

हर व्यक्ति का अपना सत्य होता है, अपना निर्णय होता है। उसे अपनी प्रज्ञा को जगाना होता है। मेरे जैसे एक बिल्कुल अबोध बच्चे को इस प्रकार गुरुदेव ने एक सत्य के साथ जोड़ा। इसे सबसे बड़ी उपलब्धि मानता हूँ। और-और मुझे बहुत देते तो कोई संतोष नहीं होता। गुरुदेव ने स्वयं कहा—मैं तुम्हें और कोई बड़ी उपाधि नहीं दे रहा हूँ किन्तु महाप्रज्ञ संबोधन दे रहा हूँ, यह उपाधि होकर भी निरुपाधि की दिशा में ले जाएगी।

आज आप लोगों ने अभिनन्दन किया। किसका किया यह तो पता नहीं। हमारे साहित्यकार बन्धु—विजयेन्द्रजी स्नातक, भवानीप्रसादजी मिश्र, इन दोनों ने किया, चतुर्वेदीजी बैठे हैं, करने वाले हैं। श्री कन्हैयालाल फूलफगर से अपनी सारी शक्ति लगा दी। दिन-रात की सीमा का भी पता नहीं चला। विद्यार्थी बैठा था, पढ़ता गया, पढ़ता गया, समय हो गया। पिता के पास गया, जाकर बोला—पिताजी! आज तो

पढ़ने में इतना मग्न हो गया कि बिजली कब गई मुझे पता ही नहीं चला। मैं तो पढ़ता ही चला गया।

दुनिया में कुछ आदमी ऐसे होते हैं जो दूसरे की बात को मान लेते हैं और कुछ आदमी ऐसे होते हैं कि नहीं मानने का व्रत रखते हैं। उन्हें मनवाने के लिए संधि-विच्छेद हो जाता है तो फिर जोड़ने के लिए शायद दुनिया में कोई गोंद नहीं मिलता। ऐसा आदमी जो दूसरों को मानकर नहीं चलता, केवल अकेला चलता है, बहुत श्रम किया—यह इस ग्रंथ (महाप्रज्ञ : च्यक्तित्व और कृतित्व) को देखने से पता चलता है। जैसे स्नातकजी ने कहा कि यह केवल आशीर्वादों, प्रशंसाओं का पुलिंदा नहीं है, इसके साथ श्रम जुड़ा हुआ है। मित्र परिषद् ने, उसके पूरे सदस्यों ने काफी तन्यमयता के साथ इसमें योग दिया और यह ग्रन्थ बनकर मेरे हाथों में आ गया। मैं मानता हूँ कि यह ग्रन्थ जो काफी श्रम से तैयार किया गया ग्रन्थ है, अब यह किसको पहुंचेगा, यह पता नहीं। टैगोर की एक कविता में कहा है—तीर्थयात्रा निकल रही है और लोग सड़क पर आकर नमन करते चले जा रहे हैं। पथ सोचता है कि लोग हमें नमस्कार कर रहे हैं। रथ सोचता है कि हमें नमस्कार कर रहे हैं और मूर्ति सोचती है कि हमें नमस्कार कर रहे हैं और जिसको नमस्कार कर रहे हैं, वह अन्तर्यामी ऊपर बैठा-बैठा हंस रहा है। यह ग्रन्थ मुझे भेंट किया गया—मैं समझूँ कि मेरा अभिनन्दन, आप समझें कि लाडलू की धरती का अभिनन्दन, जैन विश्व भारती वाले समझें कि जैन विश्व भारती के प्रांगण में अभिनन्दन, साधु-साधवियां समझें कि युवाचार्य का अभिनन्दन और वह अन्तर्यामी संगरूर* में बैठा-बैठा हंस रहा है कि किसका अभिनन्दन हो रहा है।

अभिनन्दन उसका होता है, जो जीवन में एक लौ प्रज्वलित कर देता है। मुझे परम हर्ष है इस बात का कि प्रज्ञा के साथ कोई व्यक्ति जुड़े। मैं मानता हूँ कि जब तक हमारे बन्धन नहीं टूटते—सांप्रदायिकता के, जातीयता के, राष्ट्रीयता का भी, जिस अर्थ में आज राष्ट्रवाद चल रहा है और मनुष्य या स्त्री होने का भी—सारे बंधन जब तक नहीं टूटते तब

* गुरुदेव श्री तुलसी उस समय संगरूर में विराज रहे थे।

तक मनुष्य जाति का भला नहीं हो सकता। सबसे ज्यादा इस अद्वैत की आवश्यकता है। वेदान्त का अद्वैत मान्य हो या न हो किन्तु मनुष्य जाति और प्राणिजगत् एक है, इस बात की आज बहुत आवश्यकता प्रतीत होती है। शिक्षक ने विद्यार्थी से पूछा कि पाजामा एक वचन है या बहुवचन। विद्यार्थी बोला—नीचे से बहुवचन और ऊपर से एकवचन।

हम बहुवचन में न जाएं, भले ही पाजामा दो टांगों में बंट गया हो। मनुष्य जाति में मनुष्य बंटे हुए हों किन्तु पाजामा ऊपर से एकवचन है—इस बात को ध्यान में रखते हुए पूरी मनुष्य जाति और प्राणी-जाति की एकता का अनुभव करें, हमारी प्रज्ञा जाग जाएगी। इतनी प्रज्ञा जब जाग जाती है तो फिर बौद्धिकता का विकास ज्यादा हो या कम, कोई खतरे की बात नहीं है यह नहीं जागती है, तो बड़ा खतरा हो जाता है।

मैं बहुत विनम्रता के साथ आपसे कहना चाहता हूँ कि किसी व्यक्ति की प्रशंसा, स्तुति या अभिनन्दन नहीं होना चाहिए। आपने सुना है कि स्तुति कन्या सदा कुमारी रहती है। बस एक निमित्त बने कि हर व्यक्ति अपनी प्रज्ञा की दीपशिखा को प्रज्वलित करे। मैं इस अभिनन्दन के कार्यक्रम को मेरा अभिनन्दन नहीं मानता हूँ किन्तु प्रज्ञा के एक स्फुलिंग को भी जगाने का महान् कार्यक्रम मानता हूँ और इसमें सब लोगों ने, जिसमें हमारे आगन्तुक अतिथियों ने, श्री कन्हैयालाल फूलफगर ने और मित्र परिषद् के पूरे परिवार ने जो कुछ प्रयत्न किया है, उसे मैं इस विनम्रभाव से स्वीकार कर लेता हूँ कि यह उनका प्रयत्न किसी व्यक्ति की प्रशंसा का प्रयत्न नहीं किन्तु प्रज्ञा को प्रतिष्ठित करने का छोटा-सा विनम्र प्रयत्न है।*

* महाप्रज्ञ : व्यक्तित्व एवं कृतित्व ग्रंथ के लोकार्पण के अवसर पर प्रदत्त वक्तव्य

२८. मर्यादा पत्र : मर्यादा महोत्सव का आधार

आज ११६वें मर्यादा महोत्सव का शुभ दिन है। यह महान् महोत्सव एक मर्यादा पत्र के आधार पर मनाया जाता है। वह मर्यादा पत्र आचार्य भिक्षु ने १८५६ माघ शुक्ला सप्तमी शनिश्चर वार को लिखा था। वह मूल पत्र आचार्याश्री.तुलसी के पास संगरूर में है। वे भी संभवतः इस समय उसी पत्र को जनता को दिखा रहे होंगे। मेरे हाथ में जो मर्यादा पत्र है वह तेरापंथ के तीसरे आचार्य श्रीमद् ऋषिराय के हाथ का लिखा हुआ है।

मर्यादा जीवन है। मर्यादा संयम है। यह हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। समय-समय पर मर्यादाओं का निर्माण होता है। उनमें परिवर्तन और परिवर्द्धन होता है। मर्यादाएं देश, काल और क्षेत्र से आबद्ध होती हैं। उनको शाश्वत मान लेने से बड़ी कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। हमारा यह विवेक जागृत हो कि देश, काल और क्षेत्र से आबद्ध जो वस्तु है, उसको उस देश, काल और क्षेत्र के लिए अनिवार्य मानें। जो व्यक्ति मर्यादा को तुच्छ मानता है, वह स्वयं तुच्छ बन जाता है। मर्यादा पालन का विवेक स्वयं के अन्तःकरण से स्फूर्त होना चाहिए। उसके लिए दूसरे का साक्ष्य अपेक्षित नहीं होता। आचार्य किस-किस साधु-साध्वी के साथ जाते हैं। आज हमारे साधु-साध्वी दूर-दूर देशों में विहार करते हैं और अपनी मर्यादाओं का पूर्ण रूप से पालन करते हैं। यत्र-तत्र स्वलनाएं होने पर उन्हें स्वयं प्रायश्चित्त करना होता है। हमारी मर्यादाएं अन्तःकरण से स्वीकृत मर्यादाएं हैं। वे थोपी नहीं जाती, वे ग्रहण की जाती हैं।

आचार्य भिक्षु क्रान्तिकारी आचार्य थे। वे स्वयं मर्यादा में रहे और मर्यादाओं में रहना सिखाया। मर्यादा में रहना और अनुशासन मानना

१५४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

एक ही बात है। जिस किसी मुनि ने अनुशासन का उल्लंघन किया, उसको बहुत बड़ा दंड मिला।

तेरापंथ संघ की व्यवस्था पूर्ण समाजवादी व्यवस्था है। यहां पूर्ण समाजवाद मूर्त होता है। चार मुनि हैं और एक रोटी मिली है तो चारों उस रोटी का एक चौथाई हिस्सा लेंगे। चार गिलास पानी है तो प्रत्येक मुनि एक-एक गिलासा पानी ही पीएगा, ज्यादा नहीं। यह अनुशासन है, मर्यादा है। एक बार एक मुनि ने पानी पीने में लापरवाही बरती। निर्धारित मर्यादा के अनुरूप आचरण नहीं किया। उसको तत्काल संघ से बहिष्कृत कर दिया। एक छोटी-सी बात के लिए इतना बड़ा दंड। प्रश्न छोटी-सी बात का नहीं है, प्रश्न है अनुशासन का। इस प्रकार प्रत्येक आचार्य ने अनुशासन को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रयत्न किया है, कर रहे हैं और करेंगे। तेरापंथ की रीढ़ है, मर्यादा का पालन। तेरापंथ की रीढ़ है, अनुशासन का पालन।

मैं सदा गुरुदेव के पास रहा। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति में सहभागी बना। आज वे मेरे सम्मुख नहीं हैं। क्षेत्र की दूरी है, पर तादात्म्य जुड़ा हुआ है। जो वे संगरूर में संपादित कर रहे हैं, वही मैं यहां लाडनूं में कर रहा हूं। हमारा तादात्म्य अतर्कित है। हमने मृगशिर कृष्णा दूज को गुरुदेव से विदाई ली और चार-पांच दिन पश्चात् गुरुदेव का एक पत्र मुझे मिला। उसमें गुरुदेव ने इस तादात्म्य की चर्चा की। (एक मुनि ने वह पत्र अविकल रूप से सुनाया) वह पत्र इस प्रकार है—

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ!

सादर सुखपृच्छा। धर्मपालजी की कोठी से जब हमने चतुर्विध संघ के साथ विदा किया तब उस नीम के नीचे दोनों के कंठ अवरुद्ध थे। विशेष बोल नहीं पाए। पर अत्यन्त उल्लासपूर्ण वातावरण में विदाई हुई, प्रसन्नता।

मार्ग में स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए सानन्द विहार करना और लाडनूं विश्व भारती में यथासमय सानन्द पहुंच जाना। तुम हमारे संघ की निधि हो। मेरे मन में तुम्हारे प्रति जो हार्दिक वात्सल्य भाव है, वह न याणी का विषय है और न लेखनी का। वैसे तुम्हारे मन में भी जो श्रद्धाभाव है, वह भी वैसा ही है, अनिर्वचनीय है। बस वैसा ही

दोनों का भाव प्रवर्धमान रहे। हम मिले-जुले प्रयत्न से शासन की दीर्घकाल तक सेवा करें, शासन को शिखर पर चढ़ाएं। यही अनन्त मंगल कामना है।

शिवास्तु ते पन्थानः।

६/११/७६ प्रातः

—आचार्य तुलसी

फिल्लोर

आज सप्तमी का दिन तो हमारे संघ के लिए महत्त्वपूर्ण है ही, किन्तु गुरुदेव ने गतवर्ष इसी सप्तमी के दिन युवाचार्य के रूप में मेरा मनोनयन कर इस तिथि के साथ एक और कड़ी जोड़ दी। मेरा जन्म इसके साथ जुड़ गया और वह अमर हो गया। इस तिथि के आते ही अनायास दोनों प्रसंग स्मृति पटल पर उतर आते हैं।

आज एक सुखद संयोग मिला है। हम २७ मुनि हैं, योग होता है $२+७=९$ । यहां ८१ साध्वियां हैं। इनका योग होता है $८+१=९$ नौ कुल साधु-साध्वी १०८ हैं। इस संख्या का भी योग नौ होता है। यह नौ की संख्या अक्षय मानी जाती है। पूज्य गुरुदेव भी नौवें आचार्य हैं। कितना सुयोग। हम वास्तव में पुण्यशाली हैं। हमारा एक ही कर्तव्य शेष रह जाता है कि हम सबसे पहले अपना दीपक जलाएं, फिर लोगों के अंधतमस को दूर करने का प्रयत्न करें। हम संघ की गरिमा को बढ़ाएं और इसको सुदृढ़ आधार देने का प्रयत्न करें।*

* युवाचार्य मनोनयन के बाद प्रथम बार गुरुदेव श्री तुलसी से पृथक् मनाए गए मर्यादा-महोत्सव पर प्रस्तुत वक्तव्य

२६. मानवीय एकता के सजग प्रहरी : आचार्य तुलसी

प्राणी-मात्र की एकता का लघु संस्करण है मानवीय एकता। मानवीय एकता का लघुतर संस्करण है राष्ट्रीय एकता। राष्ट्रीय एकता का लघुतम संस्करण है सामाजिक एकता। प्राणीमात्र की एकता पर्यावरण की सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। मानवीय एकता शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का मौलिक सूत्र है। राष्ट्रीय एकता विकास का उपादान सूत्र है। सामाजिक एकता सद्भावना का आधारसूत्र है। आचार्य तुलसी ने इन चारों स्तरों पर काम किया है। उनका मत है—व्यापक हित को ध्यान में रखे बिना सीमित हित को भी साधा नहीं जा सकता।

पर्यावरण की समस्या जागतिक समस्या है। इस समस्या के समाधान का रचनात्मक पहलू माना जाता है, पर्यावरण प्रदूषण को मिटाने के साधनों का विकास किन्तु इसका नकारात्मक पहलू अधिक मूल्यवान् है। अनावश्यक हिंसा, जंगलों की कटाई, पानी का अपव्यय, भूमि का अतिरिक्त दोहन—ये सब चले और प्रदूषण को मिटाने के लिए कुछ विकल्प खोजे जाएं, इन दोनों में संगति नहीं है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर अनावश्यक हिंसा के वर्जन पर बल दिया गया।

मानवीय एकता का बाधक तत्त्व है राष्ट्रवाद अथवा राष्ट्रीय कट्टरता। अपने राष्ट्र की समृद्धि के लिए दूसरे राष्ट्र के हितों को कुचलना—यह कूटनीति का चातुर्यपूर्ण जाल है। इस जाल को फैलाने में अनेक राष्ट्र लगे हुए हैं। अणुव्रत ने राष्ट्रवाद की सीमा लांघकर मानवीय एकता का संदेश जन-जन तक पहुंचाया।

राष्ट्रीय एकता कोई राजनीति अथवा चुनावी घोषणा-पत्र नहीं है। भाषा, प्रान्त, जाति और सम्प्रदाय की भेदधारा में सांस्कृतिक अभेद की स्थापना ही राष्ट्रीय एकता का प्राणतत्त्व है। गुरुदेव ने आध्यात्मिक और

नैतिक मूल्यों का उन्नयन कर राष्ट्रीय एकता की आधार भित्ति को परिपुष्ट किया है। वास्तव में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की विस्मृति ही राष्ट्रीय एकता का विखण्डन करती है। उसकी स्मृति अथवा चेतना जागृत रहे, तो राष्ट्रीय एकता कभी विखण्डित नहीं हो सकती। अनेक सम्प्रदायों के तुमुलरव में धर्म की आवाज को बुलन्द करना सचमुच एक सूझबूझ पूर्ण और साहसिक कदम है। अन्नामलै यूनिवर्सिटी में गुरुदेव ने नैतिक मूल्यों के विकास पर एक प्रवचन किया। उन दिनों तमिलनाडु में हिन्दी विरोधी आन्दोलन पूरे वेग पर था और उस यूनिवर्सिटी के छात्र उसकी अगुवाई कर रहे थे। कुलपति ने अनुरोध किया, आप अंग्रेजी में प्रवचन करें। गुरुदेव ने अस्वीकार कर दिया। उनका पुनः अनुरोध था—आप संस्कृत में प्रवचन करें। गुरुदेव ने उसे भी नहीं स्वीकारा और साफ-साफ कहा—यदि प्रवचन होगा तो हिन्दी में होगा अन्यथा नहीं होगा। आखिर हिन्दी में प्रवचन हुआ।

प्रवचन का प्रारम्भ इस वाक्य से हुआ—‘मैं तमिल नहीं जानता। यदि जानता तो तमिल में प्रवचन करता। आप मेरी इस अस्मर्थता को क्षमा करेंगे। भाषा पर नहीं, भावना पर ध्यान देंगे।’ भावना की अजस्रधारा में भाषा का प्रश्न प्रवाहित हो गया। पुनः एक बार और प्रवचन करने का आग्रह छात्रों ने किया। सब आश्चर्य की मुद्रा से देख रहे थे। कुलपति स्वयं आश्चर्य निमग्न थे। छात्रों ने कहा—आपकी भाषा हृदय की भाषा है। इससे हमारा कोई विरोध नहीं है। हमारा विरोध केवल राजनीति की भाषा से है।

राजनीति ने चाहे-अनचाहे राष्ट्रीय एकता पर काफी प्रहार किए हैं। चुनावी राजनीति भेद के अणुओं से निर्मित हुई और उसकी परिणति है विखण्डन। जातीय एकता, सांप्रदायिक सद्भावना के सारे प्रयत्न चुनाव के दिनों में धराशायी हो जाते हैं। जातिवाद और संप्रदायवाद को उन दिनों जितना उभारा जाता है, उतना शायद कभी नहीं। इस सचाई का अनुभव कर गुरुदेव ने एक गोष्ठी का आयोजन किया।

२२ दिसम्बर १९५६ का दिन। कांस्टीट्यूशन क्लब, कर्जन रोड, नई दिल्ली। अखिल भारतीय राजनीतिक दलों के नेताओं की परिषद् का आयोजन। आयोजक अणुव्रत समिति। सन्निधि आचार्यश्री तुलसी की।

उसमें भाग ले रहे थे, चुनाव मुख्य आयुक्त श्री सुकुमार सेन, कांग्रेस अध्यक्ष श्री यू. एन. देबर, साम्यवादी नेता श्री ए. के. गोपालन, प्रजा समाजवादी पार्टी के नेता आचार्य जे. बी. कृपालानी आदि।

गुरुदेव ने अपने आदि वचन में कहा—‘यदि चुनाव में अनैतिक आचरण हो तो उससे फलित होने वाला जनतंत्र पवित्र नहीं हो सकता। अणुव्रत आन्दोलन का लक्ष्य है नैतिकता या चरित्र की प्रतिष्ठा। चुनाव में भी नैतिकता को बल मिले, इस उद्देश्य से आज की परिषद् आयोजित है। किसी राजनीतिक दल या पक्ष से हमारा संबंध नहीं है।’ आदि वचन के अनन्तर गुरुदेव ने चुनाव की आचार संहिता सबके सामने रखी।

चुनाव मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन ने कहा—मुझे प्रसन्नता है कि इस परिषद् में सब राजनीतिक दलों के नेता सम्मिलित हुए हैं। चुनाव में हमारे देश के वे आदर्श प्रतिबिम्बित हैं, जिन्हें हम सदियों से मानते आ रहे हैं। उन्होंने गुरुदेव से निवेदन किया कि मतदाता की आचार संहिता में दो व्रत जोड़े जाएं।

१. मैं वोट अपने अंतरमन की आवाज के अनुसार दूंगा, देश के लाभ को सोचते हुए दूंगा।

२. मैं उस उम्मीदवार को वोट नहीं दूंगा, जो उम्मीदवार की आचार संहिता के लिए कृतसंकल्प नहीं है।

कांग्रेस अध्यक्ष श्री देबर ने साध्यशुद्धि के साथ साधनशुद्धि में भी विश्वास व्यक्त किया और विश्वास दिलाया कि हमारा दल इस कार्य में पूरा सहयोग करेगा। साम्यवादी नेता श्री गोपालन संकल्प की भाषा में बोले—यदि मैं अपनी पार्टी की ओर से चुनाव लड़ूंगा तो इन नियमों के पालन की प्रतिज्ञा करता हूं। मेरी पार्टी में इस आचार संहिता के प्रतिकूल कोई व्यवहार देखेंगे तो हम उसे रोकने का प्रयत्न करेंगे। श्री गोपालन ने सुझाव दिया—चुनाव अधिकारियों के लिए भी आचार संहिता होनी चाहिए, जैसे—मैं चुनाव कार्य में सचाई व नैतिकता का व्यवहार करूंगा।

आचार्य कृपालानी ने आचार संहिता का स्वागत किया, अपनी ओर से एक सुझाव भी प्रस्तुत किया—‘उम्मीदवार और मतदाता के लिए जैसे आचार संहिता है, वैसे ही दल की कार्यकारिणी के सदस्यों तथा मंत्रियों

के लिए भी आचार संहिता होनी चाहिए। हम जातीयता व सांप्रदायिकता के आधार पर टिकट नहीं देंगे तथा सरकारी साधनों का उपयोग नहीं करेंगे।' परिषद् में प्राप्त सुझावों को जोड़कर आचार संहिता का समर्थन किया गया।

सत्ता और संपत्ति के प्रति जितना आकर्षण है, उतना नैतिकता के प्रति नहीं है। इसीलिए इस आचार संहिता का अनुपालन नहीं हुआ। फिर भी इस प्रयत्न का अपना मूल्य है। धर्म के मंच से जनतंत्र की एक जटिल समस्या का समाधान प्रस्तुत करना अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

हिंसा की प्रबलता होती है, राष्ट्रीय एकता का विखण्डन। समाज, राष्ट्र या मानव—उन्हें जोड़ने का एक ही साधन है और वह है अहिंसा। असंतुलित अर्थव्यवस्था हिंसा को बढ़ावा देती है। हिंसा और अर्थ-संग्रह—दोनों में तादात्म्य संबंध है। हिंसा को परिग्रह की भाषा में और परिग्रह को हिंसा भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है। परिग्रह और हिंसा की समस्या को केवल दण्डशक्ति से नहीं सुलझाया जा सकता।

गुरुदेव गंगाशहर (बीकानेर) विराज रहे थे। प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने राजीव गांधी को गुरुदेव के पास भेजा। गुरुदेव ने चिंतन के प्रसंग में कहा—आप इंदिराजी को बताएंगे कि केवल समाज व्यवस्था के बदलने से समस्या का समाधान नहीं होगा और केवल हृदय परिवर्तन से भी समस्या का समाधान नहीं होगा। समाज व्यवस्था और हृदय—दोनों के परिवर्तन का प्रयत्न एक साथ चले, तभी परिवर्तन की प्रक्रिया आगे बढ़ सकती है।

एकता का सबसे बड़ा सूत्र है—हृदय परिवर्तन। इसे ध्यान से रखकर अहिंसा प्रशिक्षण की पद्धति का विकास किया गया। इसे विश्व मंच पर प्रस्तुत करने के लिए दो राष्ट्रीय कांफ्रेंस आयोजित की गईं। पहली कांफ्रेंस ५ से ७ दिसंबर १९८७ को जैन विश्व भारती लाडनू में तथा दूसरी कांफ्रेंस १७ से २१ फरवरी १९९१ को राजसमन्द में आयोजित हुई। आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य में संपन्न उस गोष्ठी का निष्कर्ष था—अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाली संस्थाओं का संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक मंच हो, अपना संयुक्त राष्ट्रसंघ हो। अहिंसा के क्षेत्र में प्रयोग

१६० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

और प्रशिक्षण का विशिष्ट अभिक्रम चले। अहिंसा के प्रशिक्षण की इस वार्ता ने विश्व-मानव को बहुत प्रभावित किया।

गुरुदेव एकता के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। आपने जैन-एकता के लिए पंचसूत्री कार्यक्रम का प्रतिपादन किया और उसके लिए अनेक प्रयत्न भी किए। एकता एक लक्ष्य है, संकल्प है। वह कोई आरोपण नहीं है। मेवाड़ की घटना है। एक छोटा-सा गांव। पहाड़ों से घिरा हुआ। वहां बैलगाड़ी का जाना भी मुश्किल होता है। चट्टानी पहाड़ियों को पार कर गुरुदेव वहां पहुंचे। दो भाईयों के बीच संघर्ष चल रहा था। गुरुदेव ने बड़े भाई से कहा—तुम इस संघर्ष को समाप्त कर दो। वह बोला—आचार्यश्री! मैं आपका भक्त हूं। आप कहें तो मैं धूप में खड़ा सूख जाऊंगा पर उस संघर्ष को समाप्त नहीं करूंगा। आखिर हृदय-परिवर्तन हुआ और संघर्ष शांति में बदल गया।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार समिति ने एकता के प्रयत्न का मूल्यांकन किया। अध्यात्म और नैतिकता के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों ने अनुभव किया कि इससे नैतिकता की और अधिक बल मिलेगा।*

*इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार; सन् १९९२, आचार्य तुलसी को दिया गया। उस संदर्भ में प्रस्तुत निबंध।

३०. परिवर्तन की परम्परा : १

आपका सीधा प्रश्न होगा, परिवर्तन तो दुनिया में होता है किन्तु धर्म को हम शाश्वत मानते हैं, उसमें परिवर्तन कैसे हो सकता है? दो तथ्य हैं हमारे सामने—एक शाश्वत और एक परिवर्तनशील। हम भौतिक पदार्थों को परिवर्तनशील मानते हैं। मकान बनता है, निर्मित होता है और ध्वंस हो जाता है, मिट जाता है। शरीर बनता है और मिट जाता है। संसार में जो कुछ भी बनता है, वह मिट जाता है। जो कृत है वह मिटता ही है। कृत भौतिक होता है, इसलिए मिटता है।

धर्म शाश्वत तत्त्व है। हर धार्मिक उस शाश्वत तत्त्व की उपासना करने के लिए अपने जीवन का अर्घ्य चढ़ता है। वह साधना करता है। यदि धर्म भी परिवर्तनशील है तो हम फिर शाश्वत की बात क्यों करें? यह निश्चित है, इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म शाश्वत है। जो शाश्वत है उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। धर्म शाश्वत है उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। किसी भी देश और किसी भी काल में धर्म में परिवर्तन नहीं हो सकता। कोई तीर्थकर आए, कोई भी आचार्य आए, धर्म में कोई भी परिवर्तन नहीं ला सकता। धर्म शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है। वह बदलता नहीं, उसे कभी नहीं बदला जा सकता। संसार की कोई भी शक्ति उसे बदल नहीं सकती।

प्रश्न है—धर्म क्या है? धर्म है अध्यात्म, आत्मा की पवित्रता, आत्मा की निर्मलता, आत्मा का सहज गुण। यह कभी नहीं बदलता। अहिंसा शाश्वत धर्म है। आज तक किसी ने इसे नहीं बदला। राग-द्वेष न करना अहिंसा है। यह नियम बदला नहीं जा सकता। जो स्वाभाविक होता है, उसे दुनिया में कोई बदल नहीं सकता। बदले वे जाते हैं जो कृत हैं, किये हुए हैं। तर्कशास्त्र कहता है—‘यत्-यत् कृतकं

१६२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

तत्-तत् अनित्यम्’—जो-जो कृतक है, वह-वह अनित्य है यह अकाट्य नियम है। ‘यत्-यत् अकृतकं तत्-तत् नित्यम्, यथा आकाशः’—जो अकृतक है वह नित्य है, जैसे आकाश। आकाश नित्य है। उसे कभी बदला नहीं जा सकता। इतनी तेज सर्दी है, आकाश में कोई परिवर्तन नहीं आता। हमारी चमड़ी फट जाती है, बिवाई हो सकती है, पर आज तक कभी आकाश नहीं फटा, उसके बिवाई नहीं हुई। इतनी तेज वर्षा होती है, आकाश का कुछ नहीं बिगड़ता। इतनी भीषण गर्मी पड़ती है, आकाश कभी गर्म नहीं होता। कोई परिवर्तन नहीं होता उसमें, क्योंकि वह नित्य है, शाश्वत है। जैसे आकाश नित्य है, वैसे ही आत्मा भी नित्य है, चेतना भी नित्य है। उसे कभी बदला नहीं जा सकता। आज तक दुनिया में चेतन अचेतन नहीं बना और अचेतन चेतन नहीं बना। दोनों में अत्यन्ताभाव है, एक का दूसरे में अत्यन्त अभाव है। एक को दूसरे में कभी नहीं बदला जा सकता।

अध्यात्म ही वास्तव में धर्म है। शुद्ध चेतना का व्यापार, शुद्ध चेतना का प्रयोग, जीवन के रागद्वेष-शून्य क्षण—ये सब धर्म हैं। धर्म की इस भाषा को कोई नहीं बदल सकता।

हम यह न भूलें कि जहां एक धार्मिक व्यक्ति रहता है, दो रहते हैं, तीन रहते हैं, चार रहते हैं, दस रहते हैं, वहां धार्मिकों का भी एक समाज बन जाता है, समूह बन जाता है, गण और संघ बन जाता है। साधुओं के भी गण हैं, संघ हैं। हमारे साधुओं का गण भिक्षुगण कहलाता है, भिक्षु शासन कहलाता है। साधुओं का भी गण होता है, समूह होता है, संघ होता है।

प्राचीन साहित्य में तीन शब्द आते हैं—कुल, गण और संघ। कुल छोटा होता है। गण उससे बड़ा होता है और संघ उससे भी बड़ा। एक शब्द है—शासन। शासन का तंत्र भी होता है। वह बदलता है। व्यवस्था बदलती है। कुल, गण और संघ के नियम भी बदलते हैं, क्योंकि नियम सुविधा के लिए बनाए जाते हैं, उपयोगिता के लिए बनाए जाते हैं। जब उनकी उपयोगिता या प्रयोजन समाप्त हो जाता है तब वे नियम बदल दिए जाते हैं, नये नियम बना दिए जाते हैं। व्यवस्थाएं निर्मित होती हैं,

बदलती हैं, परिवर्तित होती हैं।

अभी हम उस धर्म की चर्चा नहीं कर रहे हैं जो शाश्वत है। हम धर्म के परिपार्श्व में होने वाली व्यवस्थाएं, होने वाले नियम और अनुशासन की चर्चा कर रहे हैं। इनमें परिवर्तन आ सकता है, आया है और आएगा भी।

इतिहास को जानने वाला यह अस्वीकार नहीं करेगा कि नियम या अनुशासन सदा एक-सा कभी नहीं रह सकता। जो नियम बनता है, वह देश-काल-सापेक्ष होता है। अध्यात्म देश-काल-सापेक्ष नहीं होता। उसमें परिवर्तन नहीं आ सकता। संगठन में व्यवस्थाएं होती हैं। उन व्यवस्थाओं में परिवर्तन आया है, आता है और आता रहेगा। तब तक परिवर्तन आता रहेगा जब तक धार्मिक में चिन्तन बना रहेगा। कोई भी धार्मिक चिन्तन-शून्य नहीं होता। वह परिस्थितियों की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकता। वह परिस्थितियों के परिपार्श्व में जीता है। वह सारे परिवेश के संदर्भ में, देश-काल के आधार पर अपने जीवन की सामाचारी का नियमन करता है। यह सामाचारी है। एक होता है धर्म और एक होती है सामाचारी। धर्म होता है आत्मा का; व्यक्ति का। सामाचारी होती है संघ की। उदाहरण से इसे समझें।

एक समय था; मुनि की सामाचारी यह थी कि वह चिकित्सा न कराए। यह सामाचारी निश्चित थी। इसीलिए बाईस परीषदों में एक परीषद है—‘तेगिच्छं’ चिकित्सा। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—‘तेगिच्छं नाभिनदेज्जा’—मुनि चिकित्सा की मन से भी बांछा न करे। उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्ययन में एक सुंदर संवाद उपलब्ध है। मृगापुत्र दीक्षा लेने के लिए तैयार होता है। माता-पिता उसे समझाते हुए कहते हैं—‘पुत्र! तुम सुखोचित हो। तुम्हारा शरीर इतना कोमल और इतना मृदु है कि तुम प्रब्रज्या-मार्ग में आने वाले भीषण कष्टों को कैसे सहन करोगे?’ उन्होंने इतनी बातें बताईं कि कोई भी आदमी उन्हें सुनकर साधु बनने से विमुख हो सकता है। मृगापुत्र अपनी भावना में दृढ़ था। वह दीक्षा से विमुख नहीं हुआ। अन्त में माता-पिता ने कहा—‘पुत्र! देखो मुनि-जीवन अप्रतिकर्म का जीवन है। वहां बीमारी हो जाने पर चिकित्सा नहीं कराई जा सकती। तुम कैसे रह सकोगे?’

१६४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

मृगापुत्र ने कहा—“तात! जंगल में हरिण घूमता है। वह कभी बीमार भी होता होगा। बीमार हो जाने पर वह एक वृक्ष की छांह में बैठ जाता है। जब ठीक होता है तब खाने-पीने के लिए चल देता है। वैसे ही मैं भी ‘मिगचारिअं चरिस्सामि’—मृगचारिका का आचरण करूंगा।”

एक परंपरा ऐसी रही है, एक जमाना ऐसा रहा है कि मुनि कभी चिकित्सा न कराए, क्योंकि जब शरीर को छोड़ ही दिया तो फिर चिकित्सा से क्या प्रयोजन? समय बदला। चिन्तन में परिवर्तन आया। परिवर्तन यह आया कि जो ‘जिनकल्प’ की साधना कर रहा है, जो ‘जिनकल्पी’ है, वह चिकित्सा नहीं करा सकता, किन्तु जो ‘स्थविरकल्पी’ है, वह चिकित्सा करा सकता है, किन्तु सावध चिकित्सा नहीं करा सकता। संभव है छेद सूत्रों के समय में यह अपवाद भी निर्मित हो चुका था कि जो सावध चिकित्सा कराएगा, उसे इतना प्रायश्चित्त आएगा। सावध चिकित्सा करानी नहीं है किन्तु बीमार साधक धृति से दुर्बल है, कष्ट को सहन नहीं कर सकता, ऐसी स्थिति में यदि वह अपवाद मार्ग का सेवन करता है तो उसे अमुक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

मुनि आपरेशन कराते हैं। प्रश्न हो सकता है कि वे आपरेशन कैसे करा सकते हैं? प्रश्न ठीक है। वे आपरेशन नहीं करा सकते। किन्तु यदि धृति नहीं है, सहन करने की शक्ति नहीं है, सहन नहीं कर सकता—इस अधृति की स्थिति में वह आपरेशन कराता है। यह अपवाद मार्ग का सेवन है। इसके लिए प्रायश्चित्त की विधि है।

छेद सूत्रों की मुख्य बात है कि मुनि को जो काम नहीं करना है, वह काम यदि कोई मुनि कर लेता है तो उसके पीछे कारण होता है—या तो प्रमाद होता है या अधृति होती है। अधृति का अर्थ है—धैर्य न रख पाना, सहन नहीं कर सकना।

दोष का सेवन दो प्रकार से होता है। या तो साधक दर्प (प्रमाद) के कारण दोष का सेवन करता है या अधृति के कारण दोष का सेवन करता है। दोष-सेवन को प्रतिसेवना कहते हैं। प्रतिसेवना के दो प्रकार हैं—दर्प प्रतिसेवना और कल्प प्रतिसेवना। दर्प प्रतिसेवना का अर्थ है—दर्प के कारण दोष का सेवन करना और कल्प प्रतिसेवना का अर्थ है—जान-बूझकर सहन न कर सकने के कारण दोष का सेवन करना।

हम जानते हैं कि साधु को रात में न कुछ खाना है और न कुछ पीना है। किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी मुनि को रात में भयंकर प्यास लग गई और वह उस प्यास-जन्य कष्ट को सहने में असमर्थ है, उसमें धृति नहीं है, वह पानी पी लेता है। उसे प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

मुनि जंगल में से गुजर रहे हैं। वे प्यास से क्लान्त हो गए। भयंकर प्यास लगी है। कुछ मुनियों में धृति है। वे उस कष्ट को प्रसन्नतापूर्वक सह लेते हैं। कुछ मुनि उस कष्ट को सहन नहीं कर पाते। यह जानते हुए भी कि मुनि को कच्चा पानी नहीं पीना चाहिए, वे तालाब या झरने का पानी लेते हैं। उन्हें चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। यह 'चातुर्मासिक' शब्द प्रायश्चित्त की एक संज्ञा है।

मुनि रात को दवा नहीं ले सकता, यह सामान्य विधि है। कोई मुनि आपरेशन कराता है। डॉक्टर के निर्देशानुसार वह अत्यन्त आपेक्षिक स्थिति में रात में दवा ले लेता है। वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। उसे प्रायश्चित्त आता है। सारे प्रायश्चित्त निश्चित हैं—अमुक कार्य के लिए अमुक प्रायश्चित्त और अमुक कार्य के लिए अमुक प्रायश्चित्त।

आप पूछेंगे कि पहले तो ऐसा नहीं होता था, अब कैसे हो रहा है? यह जटिल प्रश्न है। सामान्यतया हर आदमी यह सोचता है कि पहले ऐसा नहीं होता था, आज हो रहा है। या पहले ऐसा होता था, आज नहीं हो रहा है। सामान्य आदमी इसी आधार पर निर्णय करने का प्रयत्न करता है। यह आधार उचित नहीं है। इसका कोई अर्थ नहीं कि पहले होता था, आज नहीं हो रहा है या पहले नहीं होता था, आज हो रहा है। हमारे चिन्तन का आधार यह होना चाहिए कि आज जो हो रहा है वह आगम से सम्मत है या नहीं? हमारी सारी परंपराओं का एक-मात्र आधार है—आगम। वैदिक परंपरा के निर्णय का मानदंड होगा कि यह तथ्य वेद-विहित है या नहीं? इसका समर्थन वेदों से होता है या नहीं? बौद्ध अपनी परंपरा के लिए पिटकों का समर्थन खोजेंगे, इसी प्रकार जैन परंपरा का कोई विधि-विधान या आचरण होगा तो हमें यह खोजना होगा कि यह कार्य आगमों से समर्थित है या नहीं? आगमों में इसकी चर्चा है या नहीं? यदि है, तो वह उचित है, चाहे उस परंपरा का हजार

१६६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

वर्षों में भी प्रयोग न किया गया हो। उसका आज भी प्रयोग किया जा सकता है। एक उदाहरण आपके समक्ष प्रस्तुत करूं। संभव है आप उसे सुनकर अचंभा करेंगे। वैसी स्थिति आप आंखों से देख लें तो आपके मन में अघृति उत्पन्न हो सकती है, मन में अनेक प्रकार के विचार आ सकते हैं।

किसी साध्वी के पैर में कांटा लग गया। दूसरी साध्वी उसे निकाल नहीं पाती। तब साधु उस कांटे को निकाले। इसमें कोई दोष नहीं है। किन्तु आज यदि किसी साधु को साध्वी का कांटा निकालते कोई गृहस्थ देख ले तो इतना ऊहापोह हो जाए कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इन वर्षों में यह काम नहीं पड़ा, परन्तु यह निर्दोष है, क्योंकि आगम-सम्मत है। आगम में यह आज्ञा है कि साध्वी के कोई कांटा चुभ जाए, साध्वी निकाल न सके तो साधु उस कांटे को निकाले।

शास्त्र का विधान है कि साध्वियां अस्वस्थ हों, भयभीत हों, उन्मत्त हों, कठिनाई में हों तो साधु, दिन हो या रात, उनके स्थान पर जाए, उनकी परिचर्या करे, उन्हें संभाले। यही बात साधुओं के विषय में है। साधुओं में वैसी स्थिति हो तो साध्वियां उनकी सार-संभाल करें। एक बार बीदासर में वैसा हुआ था। श्रीमज्जयाचार्य वहां थे। उनको छोड़कर सभी साधु मूर्च्छित होते चले गए। एक विचित्र घटना घटित हुई। उस समय सूर्योदय से कुछ पूर्व साध्वियां वहां आयीं और साधुओं की परिचर्या की। मूर्च्छित साधुओं को अंदर ले गईं। प्रश्न हो सकता है कि जब सौ वर्षों में ऐसा नहीं हुआ तो फिर जयाचार्य के समय में ही ऐसा क्यों हुआ? यह प्रश्न उचित नहीं कहा जा सकता। सौ वर्षों में जो घटना घटित नहीं हुई, वह आज हो सकती है और जो आज होती है, वह आगे पांच सौ वर्षों में भी न हो। आज भी वैसी घटनाएं घट सकती हैं।

मैं तो यह मानता हूं कि अच्छा हुआ मूल सूत्रों में अपवादों का उल्लेख हो गया। यदि ये अपवाद-सूत्र ग्रन्थों में ही उल्लिखित होते, मूल सूत्र में उनका उल्लेख नहीं होता तो शायद हम कह देते कि शिथिलाचारियों ने ऐसे अपवाद चला दिए। किन्तु वे मूल आगमों में हैं, अतः कोई कह नहीं सकता कि ये अपवाद शिथिलाचारियों के चलाए हैं।

छेद सूत्रों में इतने विचित्र अपवाद पड़े हैं कि मैं उनका उल्लेख इस परिषद् में कर नहीं सकता। मुझे वैसा करना भी नहीं चाहिए। मैंने एक संकेत मात्र दिया है। इन संदर्भों में यदि हम सोचें तो यह प्रश्न ही नहीं होता कि जो काम हमने आज तक नहीं किया, उसे आज क्यों कर रहे हैं? चिन्तन का बिन्दु यह होना चाहिए कि जो किया जा रहा है, वह आगम-सम्मत है या नहीं। बस, इससे आगे हमारा तर्क नहीं जाना चाहिए। अन्यान्य तर्क चिन्तन को विकृत या धुंधला बनाते हैं, सत्य का मार्गदर्शन नहीं करते।

चिकित्सा का प्रश्न चल रहा था। अभी-अभी पांच-सात वर्ष पूर्व ही गुरुदेव ने एक विधि की घोषणा की—यदि विशिष्ट प्रयोजनवश कोई बड़ा आपरेशन कराए, बड़े दोष के लगने की संभावना हो तो वह काम भिन्न सामाचारी में किया जा सकता है। इसका तात्पर्य है कि वह साधक संघ की सामाचारी से भिन्न सामाचारी में चला जाता है। इससे उसका साधुपन नहीं चला जाता। उसे केवल प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। मैं इसे परिवर्तन नहीं मानता। यह तो केवल विधि का प्रयोग है, परिवर्तन नहीं। परिवर्तन तो तब हो कि छेद सूत्रों में ऐसी बातों का उल्लेख न हो।

छेद सूत्र में उल्लेख है कि मुनि को गृहस्थ से अमुक-अमुक कार्य नहीं कराने चाहिए। यदि वह कराए तो प्रायश्चित्त का भागी होता है। यह प्रायश्चित्त जान-बूझकर कराए जाने वाले कार्यों के लिए ही तो आता है। यह अनजानी बात के लिए प्रायश्चित्त नहीं है। कोई आपरेशन कराता है। वह अनजाने में तो नहीं कराता, जान-बूझकर कराता है। उसे प्रायश्चित्त भी आता है।

भगवती सूत्र में एक चर्चा है। एक मुनि खड़ा है। वह नग्न है। उसका मस्सा नीचे लटक रहा है। किसी वैद्य ने उसे देखा। उसके मन में दया आ गई। उसने सोचा—मुनि है। ध्यान कर रहा है। इसका मस्सा इसे कष्ट दे रहा है। बेचारा कष्ट में है। कौन इसकी चिकित्सा करेगा? वैद्य का मन करुणा से भर गया। उसने मुनि को सुला दिया। कुछ नहीं पूछा। उसने मस्से को काट दिया। अब प्रश्न होता है कि इस क्रिया से मुनि को क्या हुआ और वैद्य को क्या हुआ? इसका उत्तर यह है—मुनि

१६८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

के धर्मकार्य में विघ्न उपस्थित हुआ। उसके ध्यान में बाधा आ गई। यदि वह मुनि उस क्रिया का अनुमोदन नहीं करता है, समर्थन नहीं करता है तो उसको कोई दोष नहीं लगता। उसके केवल धर्मान्तराय हुआ। आप कहेंगे कि अनुमोदन बाकी कैसे रह गया? काम तो सारा सम्पन्न हुआ, फिर अनुमोदन शेष कैसे रहा? मुनि ध्यान में थे और सम्पूर्ण अवधि तक वैसे ही ध्यान में रहे। मन से भी शल्यक्रिया का अनुमोदन नहीं किया। जो ऐसा करता है, उसके केवल धर्मान्तराय होता है, कोई दोष नहीं लगता। यह भगवती सूत्र का स्पष्ट उल्लेख और विधान है।

इन संदर्भों से आप अनुभव करेंगे कि छेद-सूत्रों के विधि-विधान और परम्पराएं बहुत ही विचित्र और गूढ़ रही हैं। उनके आधार पर परंपराओं में परिवर्तन होता रहता है। जब किसी कार्य की अपेक्षा होती है, उसका आचरण कर लिया जाता है। अपेक्षा नहीं होती है तो शताब्दियों में भी उसका आचरण नहीं होता।

मूल कठिनाई एक है। उसे हम समझें। वह कठिनाई यह है कि आचार्यों ने यह कहा कि छेद सूत्रों की जो सामाचारी है, प्रायश्चित्त के जो विधि-विधान हैं, उन्हें किसी गृहस्थ को तो क्या, किसी मुनि को भी सारे के सारे नहीं बताने चाहिए। किन्तु जो मुनि गीतार्थ हैं, उनके आदेशानुसार आचरण कर लेना चाहिए। मुनि भी तीन प्रकार के होते हैं—

१. परिणत—जिसका ज्ञान परिपक्व है, जो उत्सर्ग और अपवाद को जानता है, जो नयदृष्टि से सम्पन्न है।

२. अपरिणत—जिसका ज्ञान परिपक्व नहीं है, अधूरा है, जो आगम के रहस्यों को नहीं जानता।

३. अतिपरिणत—जो परिपक्व नहीं है, पर अपने आपको परिपक्व मान लेता है।

आगमों का विधान है कि अतिपरिणत मुनि को भी छेद-सूत्रों के विधि-विधान नहीं बताने चाहिए। कहा है—

‘आमे घडे निहतं जहा जलं तं घडं विणासेइ।
तह सिद्धन्तरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ।’

—जैसे कच्चे घड़े में डाला हुआ जल घड़े को नष्ट कर देता है और स्वयं भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अपरिणत मुनि को यदि छेद-सूत्रों के रहस्य दे दिए जाएं तो वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है और ज्ञान को भी विकृत बना डालता है।

अतिपरिणत मुनि भी खतरनाक होता है। वह अपने आपको बहुत मान लेता है। संस्कृत में ऐसे व्यक्ति को अर्द्धदग्ध या पंडितमानी कहा गया है। वह यथार्थ में पंडित या ज्ञानी नहीं है, किन्तु अपने आपको पंडित या ज्ञानी मान लेता है। उसे भी छेद-सूत्रों के रहस्य नहीं देने चाहिए, क्योंकि वह उनका दुरुपयोग कर डालता है। उसका तर्क होता है कि जब ऐसा करने का विधान है तो फिर ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता? ऐसा भी किया जा सकता है। वह एक विधान के आधार पर ऐसे अनेक विधि-विधान गढ़ लेता है, जो उसमें स्थान-स्थान पर छेद उत्पन्न कर देते हैं। उसको भी रहस्य नहीं बताने चाहिए। रहस्य केवल उसी व्यक्ति को बताने चाहिए जो यथार्थ रूप में परिणत है। जो न अ-परिणत है और न अति-परिणत, उसे ही रहस्य देने चाहिए। वही मुनि गीतार्थ है जो ठीक निर्देश के अनुसार आचरण करता है, उसे ही रहस्य जानने का अधिकार है।

मुनियों की बात को मैं छोड़ देता हूँ। श्रावक भी इन सब विधि-विधानों की आलोचना करते हैं। मैं मानता हूँ कि आलोचना कोई बुरी बात नहीं है। वह बुरी बात तब बन जाती है जब अनधिकृत व्यक्ति आलोचना में पड़ जाता है। श्रावक का यह अधिकृत विषय नहीं है। मेरा अधिकार हो और मैं अधिकार के साथ समझ सकता हूँ, जिसका प्रतिपादन कर सकता हूँ, उसके बारे में समीक्षा करना मेरे अधिकार की बात हो सकती है। किन्तु जिसका मैं पूर्व-पश्चिम भी नहीं जानता, जिसका मैं ‘क’, ‘ख’ भी नहीं जानता और उसकी समीक्षा मीमांसा करने लगूँ तो उस विषय के साथ न्याय नहीं कर पाऊँगा। यही नहीं, मैं अपनी मनीषा और बुद्धि के साथ भी न्याय नहीं कर पाऊँगा। यह

१७० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

अन्याय होगा।

इसलिए आचारशास्त्र के , सामाचारी के और परंपरा के जितने भी विषय हैं उनके निर्णय का दायित्व हम आचार्य पर और संघ पर छोड़ दें तो तर्कपूर्ण और विचारपूर्ण होगा।

तेरापंथ धर्मसंघ में परिवर्तन की भी एक पद्धति है। गुरुदेव के समक्ष कोई प्रश्न आता है, गुरुदेव उस पर चिन्तन करते हैं, मनन करते हैं और कुछेक मुनियों को उस विषय पर चर्चा करने लिए फरमा देते हैं। दस-पंद्रह वर्षों में होने वाले सारे परिवर्तनों के पीछे यही प्रक्रिया रही है। माघ महोत्सव के समय जब अधिकांश मुनि उपस्थित होते हैं, तब अनेक प्रश्न चर्चे जाते हैं। वर्ष भर के चिन्तनीय और चर्चनीय विषयों की सूची बना ली जाती है। फिर वह मुनि-समिति उन विषयों पर चर्चा करती है। निष्कर्ष गुरुदेव के समक्ष प्रस्तुत होते हैं। जो निष्कर्ष गुरुदेव को जंच जाते हैं उनकी घोषणा कर देते हैं। उस दिन से वह विषय हमारी सामाचारी का अंग बन जाता है। समूचे संघ में वह विधि प्रचलित हो जाती है।

समूचे संघ के द्वारा और गुरुदेव की घोषणा के द्वारा जो बात सामाचारी का अंग बनती है, हमें यह विश्वास कर चलना चाहिए कि वह कोई अचानक ही एक विस्फोट की भांति अवतरित नहीं होती, किन्तु चिन्तनपूर्वक सूझबूझपूर्वक, देश-काल की सारी मर्यादाओं और परिस्थितियों को देखकर, आगम और परंपरा की पूरी मीमांसा करने के बाद ही वह बात हमारे सामने आती है। यदि हम बहुत गहराई में न जा सकें तो कम-से-कम उसका अधिक भार न ढोएं। हमें इस विश्वास के साथ चलना चाहिए कि संघ के द्वारा जो बात सम्मत हो गई है वह साधुत्व की मर्यादा में दोष उत्पन्न करने वाली नहीं है।

जहां अध्यात्म का प्रश्न है, आन्तरिक साधना का प्रश्न है वहां बाहरी कसौटी का कोई अर्थ नहीं होता। वहां व्यक्ति कि साधना केवल अपने लिए और अपने भीतर जाने के लिए होती है, अपने आपको ही देखने के लिए होती है। वहां न कोई चर्चा, न कोई समालोचना, न कोई समीक्षा, न प्रश्न और न उत्तर, न समझना और न समझाना, वहां नितांत व्यक्ति की ही बात होती है। जब हम व्यवहार की बात करते हैं, जब

हम एक संगठन और संघ की बात करते हैं, जब हम मर्यादा और सामाचारी की बात करते हैं, जब हम एक नियमावली और एक आचार-संहिता की बात करते हैं तब वहां समझने और समझाने की बात आती है, शास्त्र की बात आती है, परंपरा की बात आती है। वहां इन सबकी समीक्षा प्राप्त होती है। किन्तु इन सारे प्रश्नों के लिए मैंने आपके सामने एक-दो कसौटियां रख दीं। यदि आप इन कसौटियों पर ध्यान दें तो बहुत सारे प्रश्न स्वयं समाहित हो जाएंगे। पहली कसौटी यह है कि हम इस तथ्य को समझने का प्रयत्न करें कि वह आगम के द्वारा सम्मत है या नहीं। यह सबसे बड़ी कसौटी है। यदि वह बात आगमसम्मत है तो चाहे वह व्यवहार में आयी हुई हो या न हो, कोई कठिनाई नहीं है। दूसरी बात यह है कि उसे हमने ठीक से समझा या नहीं।

समय-समय की मनोवृत्ति भिन्न-भिन्न होती है। एक समय था कि जैन मुनि स्थान-स्थान पर जाकर प्रवचन नहीं करते थे। हमारे यहां भी यह प्रवृत्ति प्रचलित थी। हमारे साधु-साध्वी भी अन्यत्र जाकर प्रवचन नहीं करते थे। पूछने पर कहते—कुआं प्यासे के पास नहीं जाता, प्यासा कुएं के पास आता है। हमें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। जिसे सुनने की प्यास होगी, वह स्वयं यहां आएगा। अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ। स्थान-स्थान पर आयोजन होने लगे। साधु-साध्वी विभिन्न स्थानों में प्रवचन करने के लिए जाने लगे। गुरुदेव के सामने प्रश्न आया। गुरुदेव ने कहा—प्यासा कुएं के पास नहीं जाता है, यह पुराने जमाने की बात थी। आज तो कुआं प्यासे के पास जाता है। घर-घर में ट्यूबवेल और नल लगे हुए हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि कुआं प्यासे के पास जा रहा है। यह क्या, आने वाले युग में और भी आश्चर्यकारी बातें सामने आएंगी। ऐसी कल्पनाएं हो चुकी हैं, सिद्धान्त विकसित हो चुके हैं, ऐसे घर बनेंगे, जो स्वचालित होंगे। उनमें न किवाड़ बन्द करने की आवश्यकता होगी, न पंखा चलाने की आवश्यकता होगी। आप किवाड़ के सामने जाएंगे, वे स्वतः खुल जाएंगे। आप कमरे में प्रवेश करेंगे, पंखे स्वयं चलने लगेंगे, बिजली जल जाएगी। अपने आप रसोई बन जाएगी, मशीन उसे टेबल पर परोस देगी, कोई नौकर की आवश्यकता नहीं, रसोई बनाने वाले की भी आवश्यकता नहीं। केवल

खाना आपको पड़ेगा। यह प्रश्न भी समाप्त हो जाएगा कि रसोई स्त्रियां ही क्यों करती हैं, पुरुष क्यों नहीं करते? रसोई तब मशीनें बनाएंगी, यंत्र करेंगे। यह केवल कल्पना ही नहीं है। इसके सिद्धान्त निश्चित हो चुके हैं, योजनाएं बन चुकी हैं।

इन सारे परिवर्तनों में भी हम देखते हैं कि व्यवहार के स्तर पर, देश-काल-सापेक्ष होने वाले सीमा में यदि कोई भी परिवर्तन आता है, वह न अवांछनीय होता है, न असंभव होता है, न असम्मत होता है और न कोई शास्त्र या परंपरा के विरुद्ध होता है। मात्र इतना-सा विचार आता है कि पहले ऐसा था, आज ऐसा है। मैं समझता हूं कि आचार्य भिक्षु और महाप्रज्ञ श्रीमज्जयाचार्य ने हमारा जो मार्गदर्शन किया है, वह यदि नहीं होता तो शायद कुछ कठिनाइयां होतीं। किन्तु उन्होंने सुन्दर मार्गदर्शन दिया, जिसके सहारे हम सारी कठिनाइयों को पार करने में समर्थ हैं।

आचार्य भिक्षु ने कहा—‘मैं जो कर रहा हूं, वह अपने व्यवहार से शुद्ध जानकर कर रहा हूं, हो सकता है, भविष्य में होने वाले साधुओं, बहुश्रुत मुनियों को वह ठीक न लगे। तो वे उसे बदल सकते हैं, छोड़ सकते हैं।’ यह बहुत बड़ी बात कही है आचार्य भिक्षु ने। ऐसे सत्य-शोधक विरले ही हुए हैं जो यह बात कह सकें कि मैं जो कर रहा हूं, वह यदि ठीक न लगे तो उसे छोड़ देना। मेरा कोई आग्रह नहीं है उसे वैसे ही रखने का। ऐसे व्यक्ति तो बहुत हुए हैं जिन्होंने कहा कि मैं जो रेखा खींच रहा हूं, उसे किसी ने बदल दिया तो वह गुनहगार होगा। किन्तु आचार्य भिक्षु जैसे सत्यान्वेषक, सत्य-शोधक नहीं मिलेंगे। उन्होंने कहा—मैं जो कुछ कर रहा हूं, उसे मैं व्यवहार में शुद्ध जानकर कर रहा हूं। किन्तु बहुश्रुत मुनियों को यह ठीक नहीं लगे तो वे इसे छोड़ दें, बदल दें। ऐसी बात वही व्यक्ति कह सकता है जो सत्य के लिए सर्वथा समर्पित होता है।

श्रीमज्जयाचार्य ने कुछ बातें बदल दीं, जो आचार्य भिक्षु के समय में प्रचलित थीं। बीसों बातें बदल दीं। किसी व्यक्ति ने पूछा—‘महाराज! मन में एक प्रश्न आता है कि जो काम आचार्य भिक्षु करते थे, उन्हें आपने छोड़ दिया। मैं मानता हूं कि आपने इनको छोड़ा है तो सावध

जानकर या अकरणीय जानकर छोड़ा है। केवल ऐसे ही नहीं छोड़ा है। मन में शंका उत्पन्न होती है कि या तो इन बातों का आचरण न करने वाले स्वामीजी साधु नहीं थे या आप इनका आचरण करने वाले साधु नहीं हैं। दोनों में से एक साधु हैं। दोनों नहीं हो सकते। या तो वे दोषी थे या आप दोषी हैं। दोनों निर्दोष नहीं हो सकते।' जयाचार्य ने सुना और कहा—'दोनों दोषी नहीं हैं। दोनों निर्दोष हैं। दोनों उचित हैं। स्वामीजी अपने व्यवहार में शुद्ध जानकर उनको करते थे और मैंने अपने व्यवहार में शुद्ध जानकर उन्हें छोड़ा है। दोषी कोई नहीं।'

आचारांग सूत्र (५६६) का एक वाक्य है—'समियंति मण्णमाणस्स समिया वा, असमिया वा, समिया होइ उवेहाए। असमियंति मण्णमाणस्य समिया वा, असमिया वा, असमिया होइ उवेहाए।'

—संघ अपने व्यवहार में शुद्ध जानकर कोई आचरण करता है, आचार्य अपने व्यवहार में शुद्ध जानकर किसी आचरण का प्रवर्तन करते हैं, फिर चाहे वह किसी को असम्यक् ही लगे, वह सम्यक् ही है। यदि सोचे-समझे, ठीक निर्णय लिये बिना, ठीक व्यवस्था किए बिना, चिन्तन किए बिना कोई काम कर लिया, फिर चाहे वह सम्यक् ही हो, वह असम्यक् ही होगा, दोषपूर्ण ही होगा। ऐसा आचरण मुनि को नहीं करना चाहिए। आज यहां कोई केवली नहीं है, सर्वज्ञ नहीं है। व्यवहार के आधार पर निर्णय किया जाता है। यदि व्यवहार में ठीक है, सम्यक् है, तो वह आचरण सम्यक् है। वह आचरण दोषपूर्ण नहीं होता। इस सिद्धान्त को हम ठीक से समझें। इन बातों पर हम मनन करें, इनका विश्लेषण करें तो होने वाले परिवर्तनों के विषय में मन में कोई उलझन नहीं आएगी। इससे मार्ग स्पष्ट होगा। जिस देश-काल में हम जी रहे हैं, उस देश-काल के अनुसार यदि कोई व्यवस्था परिवर्तन मांगती है, जो परिवर्तन अपेक्षित है तो उस परिवर्तन को करने में कोई दोष नहीं है। कई बार ऐसा होता है कि देश-काल की अपेक्षा के अनुसार औचित्यपूर्ण वांछनीय परिवर्तन न किए जाए तो शायद कहीं-कहीं कठिनाई पैदा हो सकती है।

मैंने अनेक बातों की चर्चा प्रस्तुत की है तथा उनके पीछे रहे हुए दृष्टिकोण, सिद्धान्त और प्रक्रिया—इन तीनों को समझाने का प्रयास

१७४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

किया है।

चावल पके हैं या नहीं, इसे देखने के लिए ऊपर से थोड़े चावल लेकर देख लिये जाते हैं। सारे बर्तन में हाथ नहीं डाला जाता। इससे आप समझ सकते हैं कि परंपरा के परिवर्तन के पीछे हमारा क्या दृष्टिकोण है? क्या प्रक्रिया है? मैं समझता हूँ कि इसे समझने के बाद सैकड़ों उलझनों स्वतः समाप्त हो जाती हैं।

३१. परिवर्तन की परम्परा : २

एक प्रश्न और सामने आता है कि समय-समय पर होने वाले परिवर्तन श्रद्धा को हिला देते हैं, एक जमी हुई बात पर श्रद्धा जो टिकी रहती है, वह परिवर्तनों के साथ डांवाडोल हो जाती है। इस प्रश्न को मैं अस्वाभाविक नहीं मानता क्योंकि हमने श्रद्धा को भ्रान्त रूप में समझ रखा है। श्रद्धा के विषय में हमारी समझ भ्रान्त है, सही नहीं है। लोगों ने मान लिया कि श्रद्धा से काम चल जाएगा, जानने की जरूरत नहीं है। सचाई यह नहीं है। सचाई यह है कि पहले जानना होता है, जानने के बाद श्रद्धा होती है। जब जानना ही नहीं तो श्रद्धा कैसे होगी? जब ज्ञान ही नहीं है तब श्रद्धा का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? ज्ञान और आचरण इन दोनों के बीच में एक सेतु है, एक पुल है। वह है श्रद्धा। श्रद्धा का सेतु मजबूत होता है तो हमारा ज्ञान आचरण तक पहुंच जाता है। श्रद्धा का सेतु कमजोर होता है तो ज्ञान ज्ञान मात्र रह जाता है, वह आचरण नहीं बनता। पहले हम जानते हैं। जानने के बाद हमारे में श्रद्धा होती है।

मुझे लगता है कि लोगों ने अज्ञान को ही श्रद्धा का नाम दे दिया, अज्ञान को ही श्रद्धा मान लिया। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।

माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥

—चार वस्तुएं दुर्लभ हैं। उनमें पहली है—मनुष्यता। दूसरी है—श्रुति। प्राचीन-काल में श्रुत का अर्थ ज्ञान था। ज्ञान सुनने से प्राप्त होता इसलिए ज्ञान का नाम श्रुति अथवा श्रुत हो गया। जैन परंपरा में ज्ञान के पांच प्रकारों में दूसरा प्रकार है—श्रुतज्ञान। वैदिक साहित्य में श्रुति

का मतलब है—वेद अर्थात् ज्ञान। तीसरी दुर्लभ वस्तु है—श्रद्धा और चौथी है—आचरण। श्रद्धा के बाद आचरण आता है। श्रद्धा का अर्थ है घनीभूत इच्छा, प्रबलतम इच्छा। ऐसी इच्छा जो इतनी उत्कट बन जाए कि उसको पूरी करना आवश्यक हो जाए। इसका एक नाम है—दोहद—लालसा। हम कहते हैं—उस गर्भवती स्त्री के मन में दोहद उत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है कि उसके मन में अमुक वस्तु के प्रति तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हुई है, जिसे पूरी करना अत्यन्त जरूरी है। यदि यह अभिलाषा पूरी नहीं होती या नहीं की जाती तो शारीरिक और मानसिक हानियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यही श्रद्धा है, घनीभूत इच्छा है। जब कोई आदमी उस विषय को जानता ही नहीं, फिर उसकी उस विषय में श्रद्धा कैसे होगी? यदि धर्म के विषय में आप कुछ नहीं जानते, उसके विषय में आपका ज्ञान नहीं है तो उसके प्रति, धर्म के प्रति आपकी श्रद्धा नहीं होगी। हम अज्ञान को श्रद्धा न मानें। इस भ्रान्ति को दूर करें। हम यह मानकर चलें कि श्रद्धा होती है ज्ञान के बाद। ज्ञानोत्तर है श्रद्धा। जिस धर्म, नियम, व्यवस्था या परंपरा को हम नहीं जानते, उसके विषय में श्रद्धा नहीं होगी। यदि श्रद्धा होती है, वास्तव में होती है तो वह इतनी कमजोर नहीं होती कि थोड़ी-सी बात से बन जाए और थोड़ी-सी बात से, टूट जाए। श्रद्धा ऐसी हो ही नहीं सकती। जो ऐसी होती है वह श्रद्धा नहीं, कुछ और है। भ्रान्तिवश हम उसे ही श्रद्धा मान लेते हैं। श्रद्धा पूरी जानकारी के बाद होगी और जो पूरी जानकारी के बाद होगी, वह वायु के झोंके से कभी नहीं टूटेगी, कभी नहीं उड़ेगी।

बहुत बार हम सुनते हैं कि यह परिवर्तन हुआ और लोगों की श्रद्धा हिल गई। यह अयथार्थ है। कहना यह चाहिए कि अमुक विषय की जानकारी नहीं थी, अज्ञान था और वह अज्ञान थोड़ा हिल गया। अज्ञान हिलना ही चाहिए, कोई आपत्ति की बात नहीं है।

परिवर्तन का जहां प्रश्न है, सारी बातें परिवर्तन की नहीं होतीं। कुछ बातें परिवर्तन की होती हैं, कुछ नयी होती हैं और कुछ चिन्तनीय होती हैं। अनेक रूप बनते हैं परिवर्तन के। उदाहरण के लिए माइक का प्रश्न है। हम पहले माइक में नहीं बोलते थे, आज बोलते हैं। इसे परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। परिवर्तन तो तब हो जब पहले एक बात चल

रही थी, उसका रूपांतरण कर दिया गया, उसे बदल दिया गया। पहले माइक था ही नहीं। इसलिए उसमें बोलने या न बोलने का प्रसंग ही नहीं आया। आज माइक है। हम उसमें बोलते हैं। यह एक नयी बात हमारे सामने आयी। यह है नये का स्वीकरण। इसे परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

पहले कपड़े नहीं धोते थे, अब धोते हैं, यह है परिवर्तन। पहले भी कपड़े धोते थे। केवल दो-तीन कपड़े नहीं धोते थे, और सारे कपड़े धोते थे। रात में पहनने-ओढ़ने के सभी कपड़े धोते थे। दिन में पहनने-ओढ़ने के कपड़े नहीं धोते थे। अब ये कपड़े भी धोते हैं। यह है परिवर्तन। प्रश्न हो सकता है कि क्या ऐसे परिवर्तन किए जा सकते हैं? जब आगम में यह निषेध हो कि कपड़े नहीं धोने चाहिए तब क्या आचार्य को यह अधिकार है कि वे इस बात को बदल दें?

दो तरह की बातें होती हैं। कुछ बातें 'करणसत्तरी' की कोटि में आती हैं और कुछ बातें 'चरणसत्तरी' की कोटि में आती हैं। 'करणसत्तरी' का अर्थ है, क्रिया (उत्तरगुण) की सत्तर बातें और 'चरणसत्तरी' का अर्थ है, आचरण (मूलगुण) की सत्तर बातें। सत्तर-सत्तर बातों की दो कोटियां की गईं। मूल बातों को नहीं बदला जा सकता। वे परिवर्तन की कोटि में नहीं आतीं। इन 'चरणसत्तरी' की सभी सत्तर बातों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। किन्तु 'करणसत्तरी' की जो बातें हैं उन बातों में आचार्य एक अपेक्षा का नियोजन कर सकते हैं। जैसे सूत्र का विधान है कि विभूषा के लिए कपड़ा नहीं धोना चाहिए। जो मुनि विभूषा का अर्थी होकर कपड़े धोता है उसे प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। अब यह व्याख्या की बात रही कि हम कपड़े धोने को विभूषा मानें या न मानें। यह हमारे चिंतन पर निर्भर है। शास्त्र का विधान है कि विभूषण-शीलता के लिए कपड़े न धोए जाएं। हम विभूषा के लिए कपड़े धोते हैं। यह कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता।

कोई मुनि बीमार है। दवा लगाई, तेल लगाया शरीर पर, कपड़ा चिकना हो गया। उसे धोया जा सकता है। यह प्राचीन परंपरा है। यह विभूषा के लिए नहीं है। आचार्य के कपड़े धोए जा सकते हैं क्योंकि आचार्य के पास बहुत सारे लोग आते हैं, बड़े-बड़े आदमी भी आते हैं,

कपड़े यदि मैले हों तो जनता में अपवाद होता है। इस लोकापवाद से बचने के लिए आचार्य के वस्त्र धोए जा सकते हैं। यह बहुत प्राचीन परंपरा है और तेरापंध संघ में भी यह चालू है। एक बार जयाचार्य के समय में ऐसा प्रसंग आया। कुछ साधुओं ने यह प्रश्न उपस्थित किया—‘आचार्य के कपड़े नहीं धोने चाहिए।’ श्रीमज्जयाचार्य ने कहा—‘आचार्य के कपड़े धोने में कोई आपत्ति नहीं है।’ काफी तर्क-वितर्क हुए। विवाद बढ़ गया। बात छोटी थी, पर विवाद ने नया रूप धारण कर लिया। श्रीमज्जयाचार्य ने इसका समाधान निकाला। उन्होंने कहा—‘आचार्य के कपड़े धोने में कोई दोष नहीं है। मैं इसमें कोई दोष नहीं मानता। मैं इस विषय में किसी आचार्य को नहीं रोकता। मैं स्वयं आचार्य होते हुए भी अपने कपड़े नहीं धुलाऊंगा। आज से मैं इस विधि को केवल अपने लिए छोड़ता हूँ।’ यह एक समाधान था। उस समय स्थिति को संभालना भी आवश्यक था। उन्होंने इस समाधान से स्थिति को संभाला। विवाद समाप्त हो गया। कुछ मुनियों ने जयाचार्य से कहा—‘जब दोष नहीं है, आप दोष मान नहीं रहे हैं तब इस विधि को क्यों छोड़ रहे हैं?’ उन्होंने कहा—‘मैं छोड़ रहा हूँ, मैं नहीं धुलाऊंगा। भावी आचार्य के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वे चाहें तो कपड़े धुला सकते हैं। कोई आपत्ति नहीं है। सिद्धान्ततः इसमें कोई बाधा नहीं है। फिर भी मैं व्यक्तिगत रूप से इसे छोड़ रहा हूँ। मेरा यह व्यवहार ऐसा ही है जैसे एक पांच वर्ष का बच्चा मकान के ऊपर चढ़ा और छज्जे पर आकर बैठ गया। उसने मां से कहा—मां! मुझे लड्डू दे, अन्यथा मैं छज्जे से गिर पडूंगा। ऐसी स्थिति में क्या करे मां। बेचारी? वह मुसीबत में फंस गई। बच्चे को उसने समझाया। वह नहीं माना। तब मां ने उसे लड्डू ला दिया। मैंने भी गिरते हुए बच्चे को लड्डू दिया है। मैं कपड़े धोने की प्रवृत्ति में दोष नहीं मानता, फिर भी इसे छोड़ता हूँ।’

बीमार के कपड़े धोए जाते हैं, आचार्य के कपड़े धोए जाते हैं, रात्रि के कपड़े धोए जाते हैं और विशेष परिस्थिति में सामान्य साधु के कपड़े भी धोए जाते हैं।

आज कपड़े धोने की जो विधि की गई है उसका भी एक निमित्त बना है। गुरुदेव पंजाब की यात्रा सम्पन्न कर दिल्ली पधारे। गर्मी के

दिन थे। ज्येष्ठ, आषाढ़ का महीना था। भयंकर गर्मी पड़ रही थी। लम्बे-लम्बे विहार और पंजाब की वह चिकनी मिट्टी। शरीर पसीने से लथपथ हो जाता। रेत उस पर चिपक जाती। कपड़े मटमैले हो गए। उस समय तक कपड़े नहीं धोते थे। कपड़े बहुत गंदे हो गए। संयोग ऐसा मिला कि जिस दिन हम दिल्ली पहुंचे, उसी दिन प्रेस कांफ्रेंस का आयोजन रख लिया गया। पहली कांफ्रेंस थी। बहुत प्रतिनिधि आए। उतनी बड़ी कांफ्रेंस फिर मैंने नहीं देखी। अनेक वरिष्ठ पत्रकार आए। डालमिया हाउस का विशाल हॉल। एक ओर गुरुदेव और साधु-साध्वी बैठ गए तो दूसरी ओर पत्र-प्रतिनिधि तथा अन्यान्य सभ्रान्त व्यक्ति बैठ गए। प्रेस कांफ्रेंस प्रारम्भ हुई। प्रश्नोत्तर होने लगे। एक पत्रकार ने पूछा—‘आचार्यजी! यह क्या? इतने साधु-साध्वी बैठे हैं। किसी के चेहरे पर तेज नहीं। ऐसा लगता है कि मानो इनको खाने को न मिला हो; कपड़े न मिले हों। क्या यही ब्रह्मचर्य का तेज है? कितने गन्दे कपड़े?’ प्रेस कांफ्रेंस में अणुव्रत की चर्चा होनी थी। परन्तु साधु-साध्वियों को देखकर पत्रकार के मन में दूसरा ही प्रश्न उठ खड़ा हुआ। अणुव्रत कहीं छूट गया और सबकी आंखें साधुओं के कपड़ों पर अटक गईं। धूल से सने कपड़ों और चेहरों पर सबका ध्यान अटक गया। सचमुच बड़ी परेशानी का अनुभव हुआ। सोचा कुछ और ही था और हुआ कुछ और ही। सब पत्रकार उस प्रश्न को ही मुख्य मान बैठे। गुरुदेव ने कहा—‘हम बहुत लम्बी यात्रा करके आ रहे हैं। गर्मी के दिन हैं। धूप में निरन्तर चलने के कारण सबके चेहरे काले-काले-से हो गए हैं। ऐसा होता है। कोई आदमी दस दिन की रेलयात्रा कर आता है तो उसके कपड़े कोयले-से काले हो जाते हैं। चेहरा काला हो जाता है।’ गुरुदेव ने इस प्रश्न को समाहित करना चाहा, पर उसका हृदयग्राही समाधान नहीं हो सका।

उसी रात को गुरुदेव ने कहा—‘जब हमारा सम्पर्क सीमित था तब यह नियम बना था कि आचार्य के कपड़े धोए जा सकते हैं क्योंकि उनके सम्पर्क में अनेक विशिष्ट व्यक्ति आते हैं, बड़े लोग आते हैं। लोकापवाद न हो, यह इसका मूल हेतु था। आज हमारे साधु-साध्वियां दूर-दूर देशों में विहार करते हैं। बड़े-बड़े आयोजन होते हैं। विशिष्ट

१८० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

व्यक्ति संपर्क में आते हैं। बड़े-बड़े राजनयिक तथा सामाजिक कार्यकर्ता संपर्क में आते हैं। जो बात केवल आचार्य के लिए थी वह आज सबके लिए हो गई। ऐसी स्थिति में चिन्तन होना चाहिए। लोकापवाद न हो। जैन धर्म के प्रति लोगों में घृणा और तिरस्कार के भाव न पनपें—इस ओर हमें प्रयत्नशील रहना चाहिए।’

यह चिन्तन की भूमिका बनी। आखिर सभी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में कुछ सोचा जाना चाहिए। वस्त्रों के प्रक्षालन की एक सीमा निश्चित होनी चाहिए। यह है परिवर्तन। इसे परिवर्तन कहा जा सकता है कि पहले नहीं था और अब हो गया। किन्तु जो बिलकुल नयी बात हो, जैसे—माइक में बोलना, यह परिवर्तन नहीं है। यह एक नया प्रश्न है। जब नया प्रश्न उपस्थित होता है तब उसके लिए शास्त्र का निरीक्षण, चिन्तन और अपना विवेक काम आता है।

अब आप पूछ सकते हैं कि माइक में बोलना है या नहीं? शास्त्रों में न तो कोई माइक का नाम है और न कोई बोलने की चर्चा है। जब चर्चा ही नहीं है तो फिर ये सारी बातें कैसे होंगी। जब गांव ही नहीं तो फिर सीमा की बात कैसे होगी? न्यायशास्त्र का एक न्याय है—न हि वंध्यापुत्रः गौरः कृष्णो वा चिन्त्यः— बांझ का पुत्र काला है या गौरा—यह चिन्तन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसके बेटा होता ही नहीं। जब माइक ही नहीं था तो उसमें बोलना चाहिए या नहीं, यह प्रश्न ही नहीं होता। अब प्रश्न होता है कि जो बात शास्त्रों में नहीं है, उसके लिए क्या करना चाहिए? यह बहुत अच्छा प्रश्न है। इस विषय में हमारी परंपरा है और आगम का विधान भी है कि जब केवलज्ञानी, आगमपुरुष, दसपूर्वी, अतिशयज्ञानी विद्यमान हों तो वे जो कहें वैसा कर लेना चाहिए। किसी आगम की जरूरत नहीं है। आगम का एक विधान है कि साधु को वेश्या के मोहल्ले में गोचरी नहीं जाना चाहिए। किन्तु भद्रबाहु स्वामी आगमपुरुष थे। स्थूलिभद्र मुनि उनके समक्ष आए और वेश्या के घर चतुर्मास करने की आज्ञा मांगी। उस वेश्या के घर, जिसके घर में गृहस्थ जीवन के बारह बरस बिताए थे और रागरंग में रहे थे। उसी के घर चातुर्मास करने की आज्ञा मांगी। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—जाओ, वहां चातुर्मास करो। आप कह सकते हैं कि वेश्या के

मोहल्ले में गोचरी जाना भी निषिद्ध है तो फिर चातुर्मास की आज्ञा कैसे दे दी? आगमपुरुष स्वतन्त्र होता है। जो उचित समझता है वह वैसे ही करता है। उसकी आज्ञा दे सकता है। किसी नियम या विधि-विधान की जरूरत नहीं। वह स्वयं शास्त्र है, नियम है, विधि-विधान है। वह स्वयं प्रमाण है।

दूसरा है श्रुत। आगमपुरुष की अनुपस्थिति में उनके वचनों के अनुसार वर्तन किया जा सकता है, शास्त्रों से काम लिया जा सकता है। शास्त्र का स्थान है दूसरा। पहला स्थान है आगमपुरुष का और दूसरा है शास्त्र का। आगमपुरुष का स्वतः प्रामाण्य है और शास्त्र का परतः प्रामाण्य है। आगमपुरुषों ने जो कहा, जिसका विधि-विधान किया, उसके आधार पर आचार और विधि-विधान का संचालन करो।

प्रश्न है कि यदि शास्त्र न हों तो क्या करना चाहिए? इसका समाधान है कि उस स्थिति में 'आज्ञा' के अनुसार काम करो। किसी आचार्य ने कोई आज्ञा दी किसी समय, वह आज्ञा किसी की जानकारी में हो तो उस आज्ञा के आधार पर काम करो। आचार्य ने अपनी आज्ञा किसी के द्वारा प्रेषित कर दी कि तुम्हें यह काम करना है, तो उसके आधार पर काम किया जा सकता है।

आज्ञा भी यदि प्राप्त न हो तो क्या करना चाहिए? ऐसी स्थिति में 'धारणा' का प्रयोग होता है। पुराने साधुओं की इस विषय में यह धारणा है, अमुक समय में आचार्य ने ऐसा व्यवहार किया, उस धारणा के आधार पर काम करो। तेरापंथ में भी बहुत सारे काम इसी आधार पर किए गए कि स्वामीजी ने वैसा किया था, इसलिए वह आचरण कर लिया गया।

यदि उपर्युक्त चारों बातें न हों तो फिर 'जीत व्यवहार' का सहारा लिया सकता है। जीत व्यवहार का अर्थ है कि जब कोई नया प्रश्न सामने आता है, नयी चर्चा का प्रसंग उपस्थित होता है, नये तर्क-वितर्क आते हैं, नयी बात आती है तो बहुश्रुत साधु उस पर चिन्तन-मनन करें, आगमों के सन्दर्भ देखें और जो बात सम्यक् व्यवहार में समझ में आ जाए, शुद्ध नीति के द्वारा जो निष्कर्ष सामने आए, उसका आचरण करें। यह जीत व्यवहार है। हमारी बहुत सारी व्यवस्थाएं, अनेक परम्पराएं

और अनेक नियम इस जीत व्यवहार के आधार पर चलते हैं।

श्रीमज्जयाचार्य के सामने एक प्रश्न आया कि बहुश्रुत जो निर्णय करे वह मान्य हो तो कौन कह सकेगा कि मैं बहुश्रुत नहीं हूँ? हर एक कहेगा—मैं बहुश्रुत हूँ। इसके समाधान में कहा गया कि बहुश्रुत वही माना जाएगा जिसे आचार्य बहुश्रुत मानें। अपनी इच्छा से कोई बहुश्रुत नहीं माना जा सकता। जिसे आचार्य की मान्यता प्राप्त होगी, उसी बहुश्रुत की बात मान्य हो सकेगी। इस भूमिका के आधार पर जितने भी नये विषय हैं, जिन बातों का शास्त्रों में स्पष्ट निर्देश नहीं है, न विधान है और न निषेध, इस कोटि के जितने प्रश्न सामने आते हैं, उन सारे विषयों का निर्णय जीत-व्यवहार के आधार पर कर लिया जाता है।

कुरान शरीफ का एक सुन्दर प्रसंग है। मोहम्मद साहब अपने खलीफों को प्रचार के लिए चारों ओर भेज रहे थे। एक खलीफा से कहा गया, 'तुम धर्म-प्रचार के लिए जाओगे तो कई प्रश्न सामने आएंगे, कई समस्याएं सामने आएंगी। उन सबका समाधान कैसे खोजोगे?' उसने कहा—'मैं उनका समाधान कुरान शरीफ में खोजूंगा।' मोहम्मद साहब ने कहा—'बहुत अच्छी बात है। परन्तु यदि वह समाधान कुरान शरीफ में नहीं मिला तो कहां खोजोगे?' उसने कहा—'फिर अपने विवेक से उनका समाधान खोजूंगा।' मोहम्मद साहब ने कहा—'अच्छा, तुम जाओ। धर्म-प्रचार करने में तुम सफल हो सकोगे। जो बात कुरान शरीफ में नहीं है, उसे अपने विवेक से ही समाहित करनी होगी।'

हम अपने वर्तमान के चिन्तन को कभी भी नियंत्रित नहीं कर सकते। आप कह सकते हैं कि सौ वर्ष पूर्व हम ऐसा नहीं करते थे, भिक्षु स्वामी के समय में हम ऐसा नहीं करते थे, आज क्यों करते हैं? इसका सीधा-सा उत्तर है। उनके जमाने में कोई जरूरत नहीं हुई, नहीं किया, आज जरूरत है उसे कर लिया। उसका समाधान वर्तमान के ही साधुओं से किया जाएगा। इसके लिए हम क्या करेंगे? हमारे पास जो साधन है, हम देखेंगे कि आगम में इसका क्या विधि-विधान है, हमारी परंपरा में इसका क्या विधान है, सबको देखेंगे, उनमें यदि समाधान नहीं मिलेगा तो हमारा चिन्तन, हमारा विवेक, हमारी बुद्धि और हमारा विमर्श ही काम देगा। उसी के आधार पर निर्णय लिया जाएगा कि वर्तमान

स्थिति में क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, यह है परिवर्तन का आधार और इसी आधार पर नयी बातें स्थापित की जाती हैं, पुरानी बातों को छोड़ा जाता है और परिवर्तनीय बातों को बदला जाता है।

इसी संदर्भ में आचार्य भिक्षु ने जो एक व्यवस्था दी थी, वह गत पचीस सौ वर्षों के इतिहास नहीं मिलेगी। उन्होंने संगठन को जितना उबारा है, उसे अद्भुत कहा जा सकता है। जिस आधार पर संगठन टूटते हैं, टुकड़े-टुकड़े होते हैं, उन सभी तत्त्वों से उन्होंने संगठन को उबारा। उन्होंने सहज सरल राजस्थानी भाषा में कहा—‘कोइ सरधा रो आचार रो नवो बोल नीकले तो बड़ा सूं चरचणो, पिण ओरां सूं चरचणो नहीं। ओरां सूं चरच ने और रे संका घालणी नहीं। बड़ा जाब देवै आपरै हीयै बेसै तो मान लेणो, नहीं बेसै तो केवलियां नैं भलावणों, पिण टोला माहें भेद पारणो नहीं, मांहोमां जिलो बांधणो नहीं मिल मिल नैं।’

कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है! उन्होंने कितनी दूरदर्शिता के साथ प्रतिपादित किया कि सूत्र का, कल्प का, आचार का कोई नया प्रश्न सामने आ सकता है। दिमाग है तो दिमाग में नये प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं। हम यह नियन्त्रण नहीं कर सकते कि दो-सौ, चार-सौ वर्ष पहले तो कोई नयी बात सूझ सकती थी और आज उस पर तात्ता लग गया है, ऐसा कभी नहीं होता। जो बात हजार वर्ष पूर्व ध्यान में नहीं आयी, वह आज ध्यान में आ सकती है और आज जो ध्यान में नहीं आती, वह आगे कभी ध्यान में आ सकती है। चिन्तन के विकास को और विकास के क्रम को रोका नहीं जा सकता। यह रुकता भी नहीं। विज्ञान के क्षेत्र में तीन सौ वर्ष पूर्व जो उपलब्धियां नहीं हुई थीं, वे आज हो रही हैं। सौ-पचास वर्ष पूर्व हमने पढ़ा था कि अन्तरिक्ष-यात्रा होगी। यान जाएगा। ये सारी कपोल-कल्पनाएं लगती थीं। सोचा जाता था कि भला ऐसे भी कभी हो सकता है? चन्द्रमा पर कोई यान जा सकता है? ये सारी बातें औपन्यासिक-सी लगती थीं, जासूसी उपन्यास जैसी लगती थीं। किन्तु आज यह सारा घटित हो गया। चन्द्रमा पर मानव-निर्मित यान उतर गया। मंगल-ग्रह पर भी यान पहुंच गया। अब इसे नकारा नहीं जा सकता, आज का आदमी तो नहीं नकार सकता। सारे सन्देह समाप्त हो गए हैं।

१८४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

चिन्तन के क्रम को कभी रोका नहीं जा सकता। नयी बातें पहले भी उत्पन्न हुई थीं, आज भी होती हैं और आगे भी उत्पन्न होंगी। हम यह नहीं कह सकते कि क्या यह बात हमारे पूर्वजों को नहीं सूझी थी? क्यों नहीं सूझी? उनको भी अनेक बातें सूझी थीं, आज भी सूझ सकती हैं और आगे भी सूझ सकती हैं। इस पर हम कोई मर्यादा और सीमा नहीं बांध सकते।

आचार्य भिक्षु ने जो चिन्तन दिया, उसके आधार पर हम नये-नये प्रश्नों का समाधान कर सकते हैं, उनकी व्यवस्था कर सकते हैं। वह बात हमारी समझ में आ जाए तो ठीक है, उसे स्वीकार करें। कोई एक बात समझ में न आए तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। हमारा ज्ञान है ही कितना! अनन्तज्ञान, केवलज्ञान की तुलना में हमारा ज्ञान है ही कितना! जब सारा का सारा अज्ञान है तो एक बात अगर समझ में न आए तो कोई कमी नहीं होगी ज्ञान की। समझ में न आए तो उस बात को हम 'केवलीगम्य' कर दें। यह कितना सुन्दर समाधान है! सत्य के शोधक को अनाग्रही होना चाहिए। वह न कहे कि मैं कहता हूँ वही सच है। यदि तुम कहते हो कि मैं कहता हूँ वही सच है तो मैं भी कह सकता हूँ कि जो मैं कहता हूँ वही सच है। तब फिर निर्णायक कौन होगा? कोई नहीं होगा। कोई केवलज्ञानी, अतिशयज्ञानी आज हमारे सामने मौजूद नहीं हैं, जो अन्तिम बात कह सके कि यह अन्तिम बात है और वह हमें मान्य करनी है। किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है। इस स्थिति में अनाग्रह के आधार पर हम इस बात को चिन्तन के लिए छोड़ सकते हैं किन्तु आग्रह को आगे नहीं चला सकते।

इस आधार पर समन्वय का एक ऐसा रास्ता बना कि किसी भी चर्चा को लेकर, किसी भी प्रश्न को लेकर, किसी नयी बात को लेकर, संघर्ष समाप्त हो गया। उन्होंने कहा—समझ में न आए तो उसे चिन्तन के लिए छोड़ दो।

मुझे तो लगता है कि हमारे आस-पास के वातावरण में बहुत छोटी बातों को बड़ा रूप देने की मनोवृत्ति बन गई है। किन्तु जो मूलभूत बड़े-बड़े प्रश्न हैं, उन्हें छुआ भी नहीं जा रहा है। आज धर्म के सामने मूलतः चुनौती है विज्ञान की। उस पर कोई चिन्तन नहीं करता। माइक

पर बोलना या नहीं, कपड़े धोने या नहीं—ये सारी व्यवहार की बातें हैं। मूलभूत प्रश्न जो विज्ञान ने आज धर्म के सामने ला खड़े किए हैं, उन पर चिन्तन करने की जरूरत है। आज का विज्ञान समूचे जीव-विज्ञान को चुनौती दे रहा है। हमारा समूचा आधार है आत्मा और जीव। इसको चुनौती मिल चुकी है। कर्मवाद को चुनौती मिल चुकी है। हम मानते हैं कि जैसा संस्कार या कर्म होता है वैसा ही जन्म होता है। आज का विज्ञान कहता है—क्या बनना है, क्या बनाना है, यह हमारे हाथ की बात है। एक वैज्ञानिक कह सकता है कि आप इंजीनियर चाहें तो इंजीनियर पैदा कर सकते हैं। वैज्ञानिक चाहें तो वैज्ञानिक पैदा कर सकते हैं। बस, थोड़े-से 'जीनों' का परिवर्तन करना होता है। 'जीन' और 'क्रोमोसोम' में गुणसूत्र आयोजित करेंगे और मनचाहा बन लेंगे। माता-पिता के बिना भी बच्चे उत्पन्न होंगे। बच्चे टेस्ट-ट्यूब में उत्पन्न हो रहे हैं। अनेक नई खोजें हो रही हैं। कुछ ही दशकों में नये तथ्य सामने आएंगे। आज जीवशास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगोल, खगोल—इन सभी क्षेत्रों में विज्ञान ने इतनी नयी उपलब्धियां प्राप्त की हैं, इतनी नयी स्थापनाएं की हैं कि आज धर्म का हर प्रश्न पुनः विवेचनीय या समझने योग्य हो गया है।

टेस्ट-ट्यूब में उत्पन्न होने वाला बच्चा वैज्ञानिक के द्वारा नियंत्रित होगा। वह वही सोचेगा जो वैज्ञानिक सोचना चाहेगा। वह वही काम करेगा जो वैज्ञानिक कराना चाहेगा। वैज्ञानिक जिस प्रकार से उसके मस्तिष्क का कंट्रोल करेगा, उसी प्रकार उसका मस्तिष्क संचालित होगा। इसका अर्थ हुआ कि कर्म, आत्मा आदि सारे प्रश्न मीमांसनीय हो गए। हम छोटी-छोटी बातों में न उलझें किन्तु उन मूलभूत समस्याओं को समाधान देने का प्रयत्न करें। हम यह सोचें कि समस्याएं क्यों उभर रही हैं और उन समस्याओं के विषय में हमारा चिन्तन क्या हो सकता है? मैं समूचे जैन समाज या समूचे धार्मिक समाज से अनुरोध की भाषा में कहना चाहूंगा कि आज मूलतः ही आस्तिकता, धर्म, अध्यात्म—ये सब चुनौतियों से घिरे हुए हैं। आज का कोई भी धर्म, कोई भी धर्म का नेता, धार्मिक विचारक और चिन्तक यदि उन मूलभूत चुनौतियों पर विचार करे, ध्यान दे तो धर्म का बहुत बड़ा भला हो सकता है, विकास

१८६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

हो सकता है। ऐसा होने पर व्यर्थ में उलझाने वाली छोटी-मोटी बातों से मुक्ति हो सकती है।

दो बातों की चर्चा की है। एक है—नयी स्थापना, नया व्यवहार और नया प्रवर्तन। दूसरी है—परिवर्तन। तीसरी जो है वह न तो कोई नयी स्थापना है, न कोई परिवर्तन है, वह एकमात्र व्यवहार की बात है।

आज भी प्रश्न आया था—जैन विश्वभारती के बारे में। यह न तो कोई नयी स्थापना का प्रश्न है और न परिवर्तन का प्रश्न है। यह मात्र व्यवहार का प्रश्न है।

प्रश्न है कि मुनि जैन विश्वभारती का संचालन कर सकते हैं या नहीं? किसी भी संस्थान के संचालन में मुनि का प्रत्यक्षतः कोई योग नहीं होता। परन्तु चाहे कोई सभा हो, चाहे कोई दूसरी-तीसरी प्रवृत्ति हो, उसके बारे में हमारा सीमाबद्ध इंगित हो सकता है, जो पहले भी होता था, आज भी होता है और आगे भी हो सकता है। हमारा मूल इंगित है कि जैन विद्याओं का विकास होना चाहिए। जैन आचार्यों ने अनेक प्रकार की विद्याओं का उल्लेख किया है। बहुत साहित्य लिखा है, नयी खोजें की हैं और इतनी उपलब्धियां छोड़ी हैं कि समाज को गर्व हो सकता है।

कुछ दिन पूर्व पंजाब यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर डॉ. शक्तिधर शर्मा यहां आए थे। उन्होंने बताया कि उनके पास उनके दो शिष्य—गर्ग और सज्जनसिंह लिस्क आए। उन्हें शोध-प्रबन्ध के लिए विषय चाहिए था। उन्होंने गर्ग से कहा—‘तुम जैन गणित के अनुसार सूर्य-प्रज्ञप्ति पर अपना शोध-प्रबन्ध लिखो।’ उसने कहा—‘नहीं, यह बहुत पुराना विषय है, मेरे मित्र कहेंगे—कितना पुराना विषय लिया है। मखौल होगा। मैं नहीं लेता इसे। मैं तो कोई भौतिकी शास्त्र का विषय लूंगा।’ मैंने फिर सज्जनसिंह से कहा। उसने जैन गणित का विषय चुन लिया। उसने सूर्य-प्रज्ञप्ति सूत्र पर काम प्रारम्भ किया और आज इतने नये तथ्य प्रकट हुए कि हमें भी आश्चर्य होता है। जिस सूर्य-प्रज्ञप्ति के विषय में जैन भाइयों का यह कथन था कि इसमें अनेक बातें असंगत हैं, उसी ग्रन्थ के विषय में डॉ. शक्तिधर ने कहा था कि यह भारतीय साहित्य की अपूर्व उपलब्धि है। समूचे विश्व में वेदांग ज्योतिष के बाद एक ऐसा समय आता है,

आर्यभट्ट से पहले और वेदांग जयोतिष के बाद, बीच का एक ऐसा शून्यकाल आता है कि उस समय का न कोई साहित्य मिलता है और न कोई सिद्धांत। सूर्य-प्रज्ञप्ति सूत्र ही उसकी पूर्ति करता है। इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ संसार में दूसरा नहीं है। उन्होंने उस पर खोज की है, अनेक स्थलों की व्याख्या की है। उनका मानना है कि जब इस ग्रन्थ के तथ्य वैज्ञानिकों के समक्ष प्रस्तुत होंगे तब कुछ नयी मान्यताएं स्थापित हो सकती हैं। गर्ग ने भौतिकीशास्त्र पर जो शोध-प्रबन्ध लिखना प्रारम्भ किया था, आज तीन वर्षों के बाद, अब वह मानने लगा है कि उसने जैन गणित का विषय न लेकर भूल की है।

कुछ वर्ष पूर्व म्यूनिख में एक कांफ्रेंस हुई थी। उसका विषय था 'सांख्यिकी' (Statistics)। उस परिषद् में प्रो. पी. सी. महलनोबिस (Mahalanobis) ने सांख्यिकी पर अपना निबंध पढ़ा था। उन्होंने यह प्रतिपादित किया था कि सांख्यिकी का मूल आधार है—सप्तभंगी, स्याद्वाद की सप्तभंगी। स्याद्वाद की सप्तभंगी के जो सात मूलभूत सिद्धांत हैं वे ही सिद्धांत सांख्यिकी के हैं। उनके पत्र में सप्तभंगी को इतना महत्त्व दिया गया है कि हमें स्वयं आश्चर्य होता है। बड़ा महत्त्वपूर्ण पत्र था वह।

आज जैन गणित, जैन खगोल आदि की नयी-नयी किरणें बिखर रही हैं। इन जैन विद्याओं से जैन लोग अपरिचित हैं। आज तक जैन-क्षेत्र में सबसे अधिक काम किया है जैनेतर विद्वानों ने। ऐसी स्थिति में क्या यह हमारे लिए चिन्तन की बात नहीं है?

जैन विश्वभारती को आप केवल बड़े-बड़े मकानों में देखते हैं इसीलिए यह प्रश्न करते हैं कि साधुओं को यह कैसे कल्पता है? साधु मकान की कामना नहीं करते। वे यह अवश्य चाहते हैं कि हमारी जैन विद्याएं, जो आज लुप्तप्राय हैं, जिन पर आज भी कम खोज हो रही है, जिनका प्रचार कम हो रहा है, जिनकी खोज पूर्वाचार्यों ने कर ली थी, जो निष्पत्तियां आज छिपी पड़ी हैं, उस धरोहर को हम आज विश्व के सामने रखें और जैन विद्याओं को आगे लाएं। यह कामना है हमारी। यह सही है कि इसकी पूर्ति के लिए अर्थ और मकान भी आवश्यक होंगे और भी हजारों चीजें आवश्यक होंगी। पर साधु अपनी सीमा में

१८८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

ही एक कामना करता है। आगे का क्रियान्वयन समाज करता है।

आचार्य विनोबा, काका कालेलकर आदि भारतीय मनीषियों ने गुरुदेव से कई बार अनुरोध किया था कि आज विश्व में अनेकांतवाद के प्रचार की आवश्यकता है और वह कार्य आचार्य तुलसी करें। यह सद्यस्क प्रश्न है।

मुझे लगता है कि लोग छोटी-छोटी बातों में उलझ जाते हैं और मूल बात को कहीं छोड़ देते हैं। वे इसमें ही उलझ जाते हैं कि महाराज चंदा करवाते हैं, मकानों की प्रेरणा देते हैं आदि-आदि। मुझे तरस आता है उनके चिन्तन पर। हम इन छोटी बातों में पड़कर मूल को भुला देते हैं। आप मकान बनाएं या न बनाएं, हमें क्या? शांतिनिकेतन जब प्रारम्भ हुआ था तब उसकी कक्षाएं वृक्षों के नीचे लगती थीं। आप हमारी इस बात को पकड़ लें कि जैन विद्याओं का हमें विकास करना है, अनुसंधान करना है और सारे विश्व में इन किरणों को फैलाना है। आप केवल यह संकल्प करें। आप एक भी कौड़ी दें या न दें, आप मकान बनाएं या न बनाएं, हमें कोई कष्ट नहीं होगा, कोई चिन्ता नहीं होगी। आप केवल मूल काम को करें। आप दोषारोपण की बात को छोड़कर काम में लग जाएं। यदि दोषारोपण ही करते रहेंगे तो पुरानी उपलब्धियां नष्ट हो जाएंगी और नया कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। आप दरिद्र बन जाएंगे।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने कितने बड़े-बड़े काम किए थे। आज उपलब्ध साहित्य उसका साक्षी है। आज आप किसी भी क्षेत्र के प्राचीन साहित्य को देखें, उसमें जैन आचार्यों की विशेष देन मिलेगी। आज कहां हैं जैन समाज में ज्योतिष के विद्वान्? कहां हैं आयुर्वेद के धुरन्धर? कहां हैं मन्त्रशास्त्र के विद्वान्? कहां हैं तंत्र और रसायन विद्या के पारगामी विद्वान्? आज मानो सारा का सारा लुप्त ही हो गया है। एक समय था जब इन सारी विद्याओं के पारगामी विद्वान् जैन परम्परा में उपलब्ध थे। उनकी इस विषय में अपूर्व देन रही है।

आज आप इतना-सा करें कि इन प्राचीन उपलब्धियों को जनता के समक्ष रखने का प्रयत्न करें। जैन विद्याओं के प्रति जनता आकर्षित होगी और इस प्रकार उसके साहित्य का उद्धार होगा। जिस परम्परा में इतने बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गए, जिस परम्परा में इतनी विशिष्ट उपलब्धियां हुईं,

क्या आज हम उनकी सुरक्षा का दायित्व भी नहीं ले सकते?

जैन विश्वभारती के माध्यम से यह काम सुगमतापूर्वक हो सकता है। इसे केवल आप अर्थ और मकान ही न मानें। ये दोनों आवश्यक हैं उसके विकास के लिए। जहां आत्मा की बात है, वहां शरीर भी होगा। हम आपसे कहते हैं—धर्म करें। धर्म आत्मा की बात है, पर उसके साथ शरीर भी होगा। केवल शरीर को न पकड़ें।

गुरुदेव जहां जाते हैं वहां आप मोटरों से आते-जाते हैं, रेलों से आते-जाते हैं, पैदल जाते-आते हैं, पंडाल बनाते हैं, पंखे लगाते हैं, बिजली लगाते हैं; और अनेक प्रवृत्तियां होती हैं। इन सबके साथ साधुओं को जोड़ना क्या समीचीन हो सकता है? इन सारी प्रवृत्तियों का दोष आप साधुओं पर डाल देते हैं और धर्म की बात, आत्मा की बात का दायित्व अपने पर लेते हैं। यह अटपटा-सा चिन्तन है। हम मूल को मूल समझें और आनुषंगिक बात को आनुषंगिक बात समझें। आचार्य भिक्षु ने कितनी सुन्दर बात कही थी—गेहूं के लिए खेती की जाती है, खाखले के लिए नहीं। घास और कडवी के लिए नहीं। हमारा यह विवेक स्पष्ट होना चाहिए कि अनाज के साथ-साथ और-और वस्तुएं भी पैदा होंगी। किन्तु किसान केवल अनाज के लिए ही खेती करेगा। दूसरी चीजें स्वतः उत्पन्न होंगी।

जैन विश्वभारती के लिए ठीक वही उदाहरण है। आचार्य भिक्षु ने ठीक कहा था—धर्म आत्मशुद्धि के लिए किया जाता है, पुण्य के लिए नहीं। पर यह निश्चित है कि धर्म के साथ-साथ पुण्य का भी बन्ध होगा। आप इसे चाहें या न चाहें, यह बन्ध अवश्य होगा। आग जलेगी तो धुआं भी होगा।

जहां जैन विद्याओं के प्रचार-प्रसार की बात आएगी वहां उनके शोध के लिए मकान भी आवश्यक होंगे और पुस्तकें भी आवश्यक होंगी। ये सारी गौण बातें हैं। हम मुख्य को मुख्य मानें और गौण को गौण। हम मूल को भुलाकर, छिपाकर, केवल गौण को ही न पकड़ें। उस पर ही न अटक जाएं।

इस प्रकार मेरी चर्चा के तीन आयाम ये हैं—

१. नयी स्थापना।

१६० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभं

२. परिवर्तन ।

३. न नयी स्थापना और न परिवर्तन, केवल व्यवहार का प्रश्न ।

आप इन तीनों पर विचार करें। आपका दृष्टिकोण सम्यक् होगा, आप सही निर्णय ले सकेंगे।

३२ परिवर्तन के लिए व्यापक दृष्टिकोण चाहिए

साधु दो कोटि के होते हैं—१. आत्मानुकम्पी २. उभयानुकम्पी। साधना की दो कोटियां हैं— १. वैयक्तिक और २. सामुदायिक। आत्मानुकम्पी मुनि का साधना-पथ वैयक्तिक होता है। वह अपनी साधना में ही लीन होता है। उसके पीछे कोई गण या सम्प्रदाय नहीं होता। उभयानुकम्पी का साधना पथ सामुदायिक होता है। वह समुदाय में रहता है, दूसरों को पथ-दर्शन देता है, उपदेश देता है, उसके पीछे कोई गण या सम्प्रदाय होता है।

आज का साधु-समाज केवल आत्मानुकम्पी नहीं है। वह उभयानुकम्पी है, अपने और पराये दोनों का हित-चिंतन करने वाला है।

साधु और श्रावक एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। श्रावक साधु के लिए निश्चा-स्थान होता है, साधु श्रावक के लिए पथ-दर्शक। यह सुनिश्चित है कि साधु और श्रावक का सम्बन्ध जो है, वह धार्मिक है। श्रावक साधु को धार्मिक जीवन के निर्वाह में सहयोग देता है और साधु श्रावक के धार्मिक जीवन का नेतृत्व करता है। साधु संभोग और धन-संग्रह से मुक्त होता है। इसलिए उसका जीवन केवल धार्मिक ही होता है। श्रावक संभोग और धन संग्रह से पूर्णतया मुक्त नहीं होता, इसलिए उसका जीवन धर्मोन्मुख होते हुए भी पूर्ण धार्मिक नहीं होता। वह लौकिक जीवन जीता है, समाज में रहता है, उसकी व्यवस्थाओं व विधि-विधानों का पालन करता है। लौकिक जीवन गृहस्थ की असमर्थता है, इसलिए साधु उसके निर्वाह का निषेध भी नहीं करता और वह धार्मिक नहीं है, इसलिए उसका विधान भी नहीं करता। किन्तु जीवन निर्वाह की दोषपूर्ण पद्धतियों का निषेध करना साधु का कर्तव्य है। यदि वह ऐसा न करे तो उसका पथदर्शन त्रुटिपूर्ण होता है। भगवान् महावीर

१६२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

ने बारह व्रतों की व्यवस्था में सामाजिक दोषों पर प्रहार किया है। कुछ लोग कह बैठते हैं—साधु सामाजिक कार्यों में भाग क्यों ले? पर वे चिन्तन को थोड़ा आगे नहीं बढ़ाते। विवाह, व्यापार, विनिमय, धन, शक्ति और सत्ता के संग्रह से अधिक और सामाजिकता क्या है? भगवान् महावीर ने इन सबकी दोषपूर्ण पद्धतियों पर विचार किया है और उन्हें छोड़ने की प्रेरणा दी है।

समाज एक गतिशील प्रवाह है। वह अपनी गति से सतत चलता है। जो चलता है, वह एक रूप लिए कभी नहीं चलता। वह नए-नए मोड़ लेता है, अनेकरूपता लिए चलता है। वह परिवर्तन है। परिवर्तन में कुछ नया आता है तो कुछ पहले का चला जाता है। जो आता है वह इष्ट ही होता है, यह नहीं कहा जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो जाता है वह अनिष्ट ही होता है। इष्ट-अनिष्ट की समझ भी एक नहीं है। देश-काल बदलता है, जैसे इष्ट-अनिष्ट की कल्पना भी बदलती है। सामाजिक परम्पराओं में ऐसा स्थिर तत्त्व है भी क्या, जिसे शाश्वत भाव से इष्ट या अनिष्ट कहा जाए? पर्दा एक सामाजिक परम्परा है। किसी देश काल में वह इष्ट था इसीलिए उसने भारत के आभिजात्य वर्ग में प्रसार पाया। आज वह अनिष्ट है इसलिए वह उस वर्ग से उठ रहा है।

प्रश्न होता है—पर्दा इतना क्या बुरा है? जिसे उठाने के लिए एक आन्दोलन-सा चल रहा है। फिर प्रश्न होता है पर्दा इतना क्या अच्छा है, जिसे रखने के लिए पुरुष इतने आतुर हैं और महिलाएं इतनी चिंतित? इन दोनों प्रश्नों पर गहराई से विचार करना है। पर्दा रहे तो कौन-सी बड़ी हानि होती है और न रहे तो कौन-सा बड़ा विकास होता है? रोग की जड़ पर्दा नहीं है वह तो एक निमित्त है। जड़ है भीरुता, कायरता, अज्ञान, लज्जा का मिथ्या-प्रदर्शन और प्रवञ्चना। बहुत बार ऐसा होता है कि निमित्त मूल से बलवान् बन जाता है, इसीलिए सूक्ष्मदर्शी लोग कार्य परिवर्तन के लिए कारण परिवर्तन को महत्त्व देते हैं। आगम सूत्रों में इन्द्रियों को चोर कहा है, शत्रु कहा है, पर क्या इन्द्रियां चोर हैं, शत्रु हैं? वे आत्मा के विकास-स्रोत हैं। वे रागद्वेष के निमित्त बनते हैं इसलिए उनको चोर कहा है, शत्रु कहा है।

ये शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श क्या हैं? अपने रूप में वे पुद्गल हैं। इन्द्रियों के विषय हैं—ज्ञेय हैं। वे न अच्छे हैं और न बुरे, न हेय हैं न उपादेय। उत्तराध्ययन में कहा है—“ये काम भोग न समता (राग-द्वेष के अभाव) को प्राप्त होते हैं और न ये विकृति को प्राप्त होते हैं। जो मोह मूढ़ होता है वह उनसे विकृति को प्राप्त होता है और वीतराग पुरुष को उनके प्रति समभाव प्राप्त होता है।”

कामभोग सूं सुमता नाहीं हुवे,
असुमता पिण तिण सूं नहीं लिंगार।
कह्यो छे उत्तराधेन बतीस में,
सो नें पहली गाथा मझार।

ये इन्द्रिय और मन के विषय रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु बनते हैं और वीतराग के लिए वे दुःख के हेतु नहीं बनते। किन्तु जब तक राग-भाव विद्यमान है तब तक प्रतिसंलीनता का उपदेश हमें प्राप्त है। भगवान् ने कहा है—“ब्रह्मचारी शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन पांच प्रकार के इन्द्रिय-विषयों को सदा के लिए छोड़ दे।”

जिस परिग्रह को हम सारी बुराइयों का मूल बतलाते हैं, वह क्या है? आखिर पुद्गल ही तो है। वह अपने आप में न अच्छा है और न बुरा है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में—

परिग्रहो कह्यो सचित अचित ने मिश्र ते दुरगति मांहे डबोवे।
ते परिग्रहो तो डबौवे नांही तिणरी मूर्च्छा विषे विगोवे॥

यों तीन प्रकार को परिग्रहो कह्यो ते,
पाप कर्म न लागै तेथी।
पाप लागे तिणरी मूर्च्छा आयां सूं
वले तिणरी इविरत सेती॥

बुरा है हमारा ममत्व। वह पदार्थों से जुड़ता है तब परिग्रह को हम बुरा कहते हैं। पदार्थ ममत्व के उदय के हेतु बनते हैं इसीलिए उपदेश

१६४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

दिया गया है कि परिग्रह को त्यागो—पदार्थ से भी दूर रहो।

पर्दा भय और ज्ञानावरण व दर्शनावरण के उदय का स्पष्ट निमित्त है इसलिए उसे बुराइयों का हेतु और त्याज्य कहा जाए, यह अनुचित नहीं।

लोग कहते हैं—पर्दा सामाजिक प्रश्न है। उसे धर्म के साथ क्यों जोड़ा जाए? साधुओं को क्या मतलब कि वे उसके बारे में कुछ कहें? प्रश्न किस दिशा में जाता है, करने वाले ही जाने। सामाजिक बुराई को मिटाने का उपदेश तो हमारे साधु-गण हजारों वर्षों से देते आए हैं। भगवान् महावीर ने जब कहा—ये जितने गीत गाने हैं वे सब विलाप मात्र हैं। ये जितने नाट्य हैं, वे सब विडम्बना मात्र हैं। ये जितने आभूषण हैं, वे सब भार-भूत हैं। ये जितने काम भोग हैं, वे सब दुःख देने वाले हैं। ये गीत, नाट्य आभूषण आदि असामाजिक नहीं हैं। सब सामाजिक हैं और सामाजिक बुराई भी नहीं है, फिर भी भगवान् ने इनको मोह-वृद्धि का हेतु समझा इसलिए इनको हेय बतलया। बुराई आखिर बुराई ही होती है, भले फिर वह सामाजिक हो या वैयक्तिक। वारह व्रतों में सामायिक आदि वैयक्तिक उपासना के व्रत हैं वहां कन्यालीक आदि अनेक अतिचार सामाजिक बुराइयों के प्रतिकार के लिए हैं। ओसर-मोसर आदि सामाजिक रूढ़ियां नहीं हैं क्या? उसके बारे में क्या साधु कुछ नहीं कह सकते? जब समाज-सम्मत बुराई को छोड़ने का भी उपदेश दिया जा सकता है, तब उस बुराई के बारे में क्यों नहीं कहा जाए, जो समाज-सम्मत भी न हो।

पर्दा एक उदाहरण है। इस कोटि की अनेक बुराइयां हो सकती हैं और उनका प्रतिकार किया जा सकता है। दहेज क्या है? एक देता है और दूसरा लेता है। इस लेन-देन में हस्तक्षेप करने की क्या आवश्यकता है? किन्तु यह लेन-देन में हस्तक्षेप नहीं, यह बुराई का प्रतिकार है। साधु-साध्वियों का स्वर्गवास होने पर रुपये-पैसों की उछाल की परम्परा रही है। गत वर्ष गुरुदेव ने यह सुझाया कि यह अब नहीं होनी चाहिए? इस पर भी कुछ चर्चाएं उठीं कि क्या यह अन्तराय नहीं है? यह प्रश्न है। प्रश्नकर्ता स्वतंत्र भी होता है। जिज्ञासा हो वहां तक स्वतंत्रता भी उपयुक्त है। वह न हो तो स्वतंत्रता का दुरुपयोग भी नहीं होना चाहिए।

में नहीं कह सकता कि साधु जो होते हैं, वे सब गीतार्थ ही होते हैं, रूढ़ियां और संकीर्ण विचारों से मुक्त ही होते हैं। देश-काल के सम्यक् आकलन की क्षमता सबको प्राप्त होती है। श्रावकों के लिए तो कहा भी क्या जाए? वे उत्सर्ग और अपवाद के तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ से हैं। उनकी ज्ञान की स्थिति बहुत ही अपरिपक्व है। उन्होंने जो कुछ सुना है, देखा है, उसी को वे सर्वोपरि प्रमाण मानते हैं। यह ठीक भी है पर उससे आगे कोई सत्य बाकी नहीं है, उससे आगे करने का कल्प नहीं है यह मानना ठीक नहीं है। एकांगी दृष्टिकोण सदा भयंकर होता है।

कल तक जो कार्य साधु नहीं करते थे, वह आज कर सकते हैं। आज तक जो कार्य करते आए हैं, उसे छोड़ा जा सकता है। कल तक जो तत्त्व समझ में नहीं आया, वह आज आ सकता है। आज तक जो तत्त्व जिस रूप में समझा गया, उसकी समझ में परिवर्तन भी हो सकता है। साधुओं के कुछ नियम स्थित हैं, जो मौलिक हैं। कुछ नियम अस्थित भी है। कुछ नियम ऐसे हैं जिनके बारे में चिन्तन हुआ है। कुछ नियम ऐसे हैं जिनके बारे में चिन्तन नहीं हुआ है या नहीं जैसा हुआ है। आगमों के अनेक पाठ आज भी विवादास्पद हैं, अनेक पाठों को बड़े-बड़े आचार्यों ने 'केवलीगम्य' कहकर छोड़ा है। आचार्य भिक्षु ने अज्ञात विषय के ज्ञान की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया। उन्होंने लिखा है—“श्रद्धा, आचार, कल्प या सूत्र का कोई नया विषय सामने आए तो बहुश्रुत साधु उसकी संगति बिठा लें।” यदि नये विषय की कोई संभावना ही न हो तो वे ऐसा क्यों लिखते? इतिहास में इस घटना की पुनरावृत्ति होती रही है कि आदि प्रवर्तक महापुरुष का चिंतन सहज होता है किन्तु उनके कुछ अनुयायी उसे व्याख्याओं के जाल में फंसा जटिल बना देते हैं और उसके आशय को न समझ केवल शब्द की दुहाई देते रहते हैं।

आज हमारे कुछ श्रावक एक उलझन में हैं। साधु या श्रावक कोई भी हो, उलझन तब तक मिटती भी नहीं जब तक दृष्टिकोण अनाग्रह पूर्ण न बन जाए। आज तक यह नहीं हुआ, अब कैसे होता है? इस दृष्टि से जो देखते हैं और इसी तर्क के आधार पर जो सोचते हैं वे न

१६६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

संकीर्ण परिधि से आगे देख पाते हैं और न उससे आगे सोच पाते हैं। आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान की अनवरत प्रगति ने बहुत सारे नये तथ्यों को सामने रखा है। आज की अनुसन्धान पद्धति ने अतीत की शल्य-चिकित्सा कर डाली है। जिन शब्दों और तथ्यों को समझना गत कई शताब्दियों में कठिन था, वह आज सरल है। आज का प्रकाशक अन्वेषक के लिए बहुविध सुविधाएं प्रस्तुत करता है। इस परिवर्तित परिस्थिति में क्या यह उचित होगा कि हम लोग दृष्टि को न तो व्यापक बनाएं और न चिन्तन को विकसित करें। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो शब्दों की पकड़ से अपने को छुड़ा नहीं सकते। किन्तु जो चिन्तनशील हैं देशकाल की मर्यादा का जिन्हें भान है वे केवल शब्दों की रट नहीं लगा सकते। चिन्तन की स्वतन्त्र दिशा में आचार्य भिक्षु और श्रीमज्जयाचार्य ने जो किया है, वह हमारे सामने आदर्श है। व्यवहार सूत्र (तृतीय उद्देशक सूत्र ११) में साधु को 'दुसंगहिए' बतलाया है। वह आचार्य और उपाध्याय के बिना नहीं रह सकता। साध्वी को 'तिसंगहिए' बतलाया है। वह आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी के बिना नहीं रह सकती। आचार्य भिक्षु ने इस सूत्र का आशय समझा और देश-काल की स्थिति को ध्यान में रख उपाध्याय और प्रवर्तिनी का पद आचार्य पद में ही गर्भित कर दिया। सात पदों की जो आगमिक व्यवस्था थी, उसे एक पदात्मक बना दिया। और भी उन्होंने ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जो उनकी आशय-स्पर्शी बुद्धि के ज्वलन्त प्रमाण हैं। आज की स्थिति यह है कि कोई विषय चिन्तन के लिए आता है, तो उसके आने से पहले ही छिछली आलोचना शुरू हो जाती है। यह समाज के स्वस्थ चिन्तन का परिचायक नहीं है।

पदों के बारे में गुरुदेव ने स्पष्टता के साथ जो कहा, उससे कुछ लोग चौंके हैं। उन्होंने आलोचनाएं भी की हैं पर वे स्तर की नहीं हैं। किसी वस्तु की आलोचना न हो, यह कौन चाहता है? आलोचना हो पर ऊंचे स्तर की हो, उसके पीछे चिन्तन हो, तर्क और आप्तवाणी का आधार हो, यह गुरुदेव स्वयं चाहते हैं।

पदों की चर्चा कई वर्षों से चल रही है। लगभग १० वर्ष पहले श्री श्रीचन्द्रजी रामपुरिया, जो समाज में एक अध्ययनशील और

चिन्तनशील व्यक्ति हैं, ने गुरुदेव से निवेदन किया कि पर्दा निवारण के विषय में स्पष्ट उपदेश होना चाहिए। यह कोरा सामाजिक प्रश्न ही नहीं है, यह आध्यात्मिक प्रश्न भी है। उनका चिन्तन यथार्थ था पर एक साथ वैसा प्रयत्न नहीं हुआ।

इस वर्ष गुरुदेव ने स्पष्ट भाषा में पर्दा को अनावश्यक और अहितकर बताया। इसके पीछे एक परिस्थिति भी है। गुरुदेव ने बम्बई, कलकत्ता, बिहार, यू. पी. की यात्राएं कीं। वहां आगन्तुक लोगों पर एक प्रतिक्रिया यह भी होती कि अभी गुरुदेव के आस-पास का वातावरण अज्ञानपूर्ण और अशिक्षापूर्ण है। परिषद् में पर्दे की बहुलता है। इसमें सुधार नहीं ला सके, इस तथ्यहीन रूढ़ि को नहीं बदल सके तो दूरवर्ती वातावरण में क्या परिवर्तन ला सकेंगे?

पर्दे की उपयोगिता अब कोई है ही नहीं। लज्जा व सदाचार की दृष्टि से यह हो तो साध्वियों के लिए भी अनिवार्य माना जाता। आजकल-के पतले ओढ़नों की स्थिति में पर्दा है भी और नहीं भी। जहां पर्दा चाहिए, वहां नहीं है और जहां नहीं चाहिए, वहां है। तत्त्व दृष्टि यह है कि ब्राह्मीघृत आदि ज्ञानावरण के क्षयोपशम के निमित्त बन सकते हैं तो पर्दा दर्शनावरण के उदय का निमित्त कैसे नहीं बनता? आंखों पर पट्टी बांधना दर्शनावरण के उदय का उदाहरण है। इस प्रकार किसी भी दृष्टि से पर्दा आज उपयोगी नहीं है। इस विषय पर या ऐसे किसी भी विषय पर लोग तत्त्व दृष्टि से विचार करें। जीवन में विकृति लाने वाले निमित्तों से बचने का यत्न करें, चिन्तन को मुक्त और व्यापक बनाएं।*

* तेरापंथ दिशताब्दी समारोह में पर्दा-प्रथा के संदर्भ में प्रस्तुत वक्तव्य।

३३. संघीय अनुशासन

अनुशासन की आधार भूमि है लज्जा। साधारणतया लज्जा का प्रयोग लाज, संकोच अथवा शर्म के अर्थ में होता है। लाजवन्ती की पत्नी का कोई स्पर्श करता है, पत्तियां सिकुड़ जाती हैं, छुई-मुई हो जाती हैं। अकरणीय को करने का प्रसंग आने पर जो स्वतः संकुचित हो जाता है, उसके ललाट पर अनुशासन की लिपि अंकित हो जाती है। इसीलिए संस्कृत कवि ने लज्जा को जननी की भाँति गुण समूह की जननी कहा है। अनुशासन और अनुशास्ता का बहुत मूल्य है। इनसे भी अधिक मूल्य है अनुशासित का, जो अनुशासन को श्रद्धा-पूर्वक शिरोधार्य कर लेता है। इसी सत्य को सामने रखकर आचार्य भिक्षु ने कहा था—

सुणज्यो रे साध न साध्वी,
राखज्यो हेत विशेष।
जिण तिण ने मत मूंडज्यो,
दीख्या दीज्यो देख देख!

जिस किसी को शिष्य मत बना लेना। जांच-पड़ताल कर शिष्य को दीक्षित करना।

तेरापंथ की विशिष्टता का हेतु है योग्य व्यक्ति की दीक्षा। आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया—‘शिष्य लोलुपता और अनुशासन—ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। शिष्यों की संख्या अधिक हो, यह अवधारणा अनुशासन पर हिमपात जैसी है।

आचार्य भिक्षु तेरापंथ को केवल अनुशासन देते और योग्य दीक्षा का मंत्र नहीं देते तो अनुशासन कभी सफल नहीं होता। तेरह साधु थे और छह रह गए फिर भी अनुशासन को शिथिल नहीं किया। जो रहे, वे योग्य थे। योग्यता का संवर्धन हुआ और तेरापंथ अनुशासन के लिए उदाहरण बन गया।

मर्यादा महोत्सव केवल मर्यादा का महान् उत्सव नहीं है, वह योग्यता का प्रमाण पत्र है। आज की अपेक्षा है—धर्मसंघ के हर सदस्य की योग्यता में वृद्धि हो, हर सदस्य के मानस-पटल पर लज्जा का लिप्यंकन हो।

आत्मानुशासन के बिना अनुशास्ता का दिया हुआ अनुशासन सफल नहीं होता। लज्जा आत्मानुशासन है, अपने द्वारा अपने पर नियंत्रण है, संयम है। इसके चार रूप बनते हैं—

१. एकांत में आत्मानुशासन
२. परिषद् में आत्मानुशासन
३. नींद में आत्मानुशासन
४. जागृत अवस्था में आत्मानुशासन

जो एकांत में आत्मानुशासी होता है, उसके लिए अनुशासन अलंकार होता है। जो केवल परिषद् में अनुशासित होता है, उसके लिए अनुशासन आरोपित जैसा होता है। जो नींद में भी अनुशासित होता है, उसके लिए अनुशासन सहज सिद्ध होता है। जो जागृत अवस्था में अनुशासित होता है, उसके लिए अनुशासन अभ्यास-साध्य होता है।

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ को एक मंगल मंत्र दिया, वह है—एक आचार्य का नेतृत्व। उसके प्रभाव से हमारा धर्मसंघ सदा गतिशील है, विकास कर रहा है।

आचार्य भिक्षु ने पद और महत्त्वाकांक्षा को सीमित कर संगठन को चिरजीवी बना दिया। तेरापंथ तीसरी शताब्दी में उच्छ्वास ले रहा है। आचार्य भिक्षु कृत मौलिक मर्यादाओं को बदलने की आवश्यकता कभी महसूस नहीं हुई। यह उनके आभामण्डल और अंतर्दृष्टि का परिणाम है। इन पच्चीस दशकों में अनेक परिवर्तन हुए हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे, किन्तु आधारभूत मर्यादाओं को अपरिवर्तित रखना है। यह हमारा पवित्र कर्तव्य है। परिवर्तन में हमारा विश्वास है। केवल परिवर्तन में हमारा विश्वास नहीं है। अनेकांत का सूत्र है—परिवर्तन और अपरिवर्तन का समन्वय।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन को केन्द्रित और कार्य को विकेन्द्रित किया। उन्होंने कहा—‘आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, गणी, गणावच्छेदक, स्थविर और प्रवर्तिनी—इन सात पदों के कार्य मैं देख रहा हूँ।’ इसकी ध्वनि है कि उन्होंने किसी पद की व्यवस्था नहीं की, किसी भी साधु-साध्वी की किसी पद पर नियुक्ति नहीं की। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भविष्य में कोई भी आचार्य

२०० अतीत का वसंत वर्तमान का गौरव

किसी नए पद की व्यवस्था न करे और किसी व्यक्ति की किसी पद पर नियुक्ति न करे।

तेरापंथ का ध्रुव सत्य यह है कि कोई साधु-साध्वी पद के लिए उम्मीदवार नहीं बनता। मन ही मन कोई उम्मीदवार बन जाता है, वह पनप नहीं पाता।

तेरापंथ की शासन-प्रणाली आचार्य केन्द्रित है। उसमें विकेन्द्रीकरण का पूरा अवकाश है।

धर्मशासन में आचार्य केवल शास्ता नहीं होता, वह गुरु भी होता है शास्ता की कार्य-प्रणाली का मुख्य आधार होता है अनुशासन। गुरु की कार्यप्रणाली प्रशिक्षण और हृदय-परिवर्तन पर आधृत होती है। वही धर्मसंघ शक्तिशाली हो सकता है, जिसे यह उभय धर्मात्मक नेतृत्व प्राप्त होता है। **मामेकं शरणं ब्रज**—यह समर्पण की भाषा है। समर्पण किसी व्यक्ति के प्रति नहीं होता, वह लक्ष्य, सिद्धांत और आचार के प्रति होता है। धर्मसंघ का लक्ष्य है आध्यात्मिक विकास, सिद्धांत है आत्मा को प्रतिष्ठित करना और आचार है वीतरागाभिमुखी साधना। आचार्य लक्ष्य की पूर्ति, सिद्धांत की पुष्टि और आचार की अनुपालना में सहायक होता है, इसलिए संघ के साधु-साध्वियों का समर्पण आचार्य के प्रति होता है।

तेरापंथ की सफलता का रहस्य श्रद्धा और समर्पण है। आचार्य के आदेश-निर्देश को पूरा धर्मसंघ हृदय से स्वीकार करता है, यह वर्तमान युग का एक बड़ा आश्चर्य है।

अनुशासन केन्द्रित और कार्य विकेन्द्रित—इस प्रणाली से प्रवर्धमान प्रवृत्तियों को अधिक व्यवस्थित किया जा सकता है। अग्रणी की व्यवस्था विकेन्द्रित प्रणाली का स्वरूप है। केन्द्रित और विकेन्द्रित प्रणाली का जो मूल्य है, उससे अधिक मूल्य है लक्ष्य की पूर्ति का, साध्य की सिद्धि का। मर्यादा साध्य की सिद्धि में सहायक बनती है इसलिए वह हमारे लिए बहुत मूल्यवान् है। जयाचार्य ने मर्यादा महोत्सव की स्थापना कर तेरापंथ को प्राण शक्ति प्रदान की है। उससे अनुप्राणित धर्मसंघ निरन्तर गतिशील होकर विकास के पथ पर आगे बढ़ रहा है।*

* १३२वें मर्यादा महोत्सव पर प्रस्तुत वक्तव्य।

३४. उस संघ को प्रणाम

तेरापंथ का अर्थ है—आत्मोत्सर्ग। जो व्यक्ति आत्मोत्सर्ग करना नहीं जानता, वह तेरापंथ को नहीं जान सकता। जिस व्यक्ति में आत्मोत्सर्ग की क्षमता होती है, व्यक्तिगत अहं और व्यक्तिगत स्वार्थ के विसर्जन की क्षमता होती है, वही व्यक्ति वास्तव में तेरापंथ का अर्थ समझ सकता है। एक विदेशी लेखक ने लिखा है—हिन्दुस्तान की एक सबसे बड़ी समस्या है—व्यक्तिगत स्वार्थवादी मनोवृत्ति। इस समस्या ने सारे राष्ट्र में भ्रष्टाचार को जन्म दिया है।

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का दर्शन दिया। उसमें सबसे पहली बात आत्मोत्सर्ग की कही। समर्पण और आत्मोत्सर्ग का विकास निरन्तर हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। आज तक की हमारी परम्परा में बहुत पहले से आत्मोत्सर्ग और समर्पण की बात रही है, विनम्रता और अनुशासन की बात रही है।

जिस संघ में गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पण होता है, उस संघ का नाम है—तेरापंथ। साधु बनना, पांच महाव्रतों का पालन करना, पांच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना अनिवार्य बात है। किन्तु उसमें भी अनिवार्य बात है समर्पण और अनुशासन की। आचार्य भिक्षु ने सोचा—यदि संघ में संगठन और अनुशासन नहीं होगा तो महाव्रतों, समितियों और गुप्तियों का पालन भी नहीं होगा। इसीलिए उन्होंने आचार के साथ-साथ अनुशासन को भी बड़ा महत्त्व दिया।

तेरापंथ आचार-प्रधान संघ है तो साथ-साथ अनुशासन-प्रधान संघ भी है। जितना मूल्य इसमें आचार का है, उतना ही अनुशासन का भी है। आज तक की हमारी परम्परा ने इस बात को प्रमाणित किया है कि जिस व्यक्ति ने अनुशासन को भंग किया, वह आचार में भी स्थिर नहीं

२०२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

रह सका। ऐसा सम्भव ही नहीं लगता। आचार और अनुशासन दो आंखों की तरह हैं। एक आंख फूट जाती है तो आदमी काना बन जाता है। आचार और अनुशासन हमारे दो हाथ और दो पैरों की तरह हैं। एक हाथ या एक पैर के टूट जाने पर आदमी टोंटा या लंगड़ा बन जाता है। हम इस बात का बराबर मूल्यांकन करते रहें। तेरापंथ धर्मसंघ के परिसर में पनपने वाला, तेरापंथ की आत्मा को समझने वाला व्यक्ति इस बात को बड़ी गहराई से स्वीकार करेगा कि अनुशासन की गरिमा बराबर बनी रहे।

आज मुझे गर्व होता है कि तेरापंथ के हर श्रावक को अपनी आनुवंशिकता और पैतृक विरासत के रूप में यह संस्कार मिल जाता है। इसलिए वह अनुशासन और संगठन को बराबर मूल्य देता चला जा रहा है। संघ और संघपति के प्रति अटूट आस्था और समर्पण तेरापंथ की प्रगति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में तेरापंथ ने अपने मौलिक सिद्धान्तों को यथावत् रखते हुए जिस प्रकार नयी-नयी दिशाओं का, नये-नये आयामों का उद्घाटन किया है, फिर वह चाहे साहित्य का क्षेत्र हो, चिन्तन का क्षेत्र हो या अध्यात्म का क्षेत्र हो, प्रत्येक क्षेत्र में जो अपने पैर आगे बढ़ाए हैं, वह एक नेतृत्व का ही सुपरिणाम है। तेरापंथ की चहुंमुखी प्रगति का आधार यही रहा है और रहेगा।

उस बीज का मूल्य होता है जो पल्लवित होकर छांव दे सकता है, रस दे सकता है। उस ज्योति का मूल्य होता है जो अंधकार को प्रकाश में बदलने की क्षमता रखती है। तेरापंथ आज एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर सबको सुखद शीतल छांव दे रहा है। तेरापंथ आज एक दिव्य ज्योति के रूप में अंधकार को प्रकाश में बदल रहा है। नीरसता में सरसता का अंकुरण कर रहा है तथा अनास्था को आस्था में बदल रहा है।

अतीत की गाथाएं सुनते-सुनते कान वहरे हो जाते हैं। उसके साथ हमारा संबंध मात्र पचीस प्रतिशत होता है और पचीस प्रतिशत ही संबंध होता है हमारा अनागत या कल्पना से। किन्तु पचास प्रतिशत संबंध हमारा वर्तमान से होता है। जिसके पैर वर्तमान के धरातल पर टिकते हैं, सही अर्थों में वही अपना मूल्य स्थापित कर पाता है। जिसके पैर

अतीत की ओर या अनागत की ओर चलते हैं, उसका मूल्य दुनिया में कम होता है। आचार्य भिक्षु का विचार, आचार तथा दर्शन आज भी जीवित है और इस दुनिया में जो जीवित है, जिसमें वर्तमान में सांस लेने की क्षमता है, उसी की पूजा होती है।

आचार्य भिक्षु स्वयं वर्तमान को समझने वाले थे। उन्होंने वर्तमान को जितना समझा, बहुत कम लोग समझ पाते हैं। वर्तमान और विवेक दोनों से उन्होंने काम लिया। जो व्यक्ति केवल ग्रन्थों या शास्त्रों के आधार पर चलता है, अतीत के आधार पर चलता है, उसके साथ वर्तमान का योग नहीं जुड़ पाता है तो गणित फेल हो जाता है।

आचार्य भिक्षु ने केवल एक पद 'आचार्य' का रखा। लोगों ने कहा—'महावीर के समय की यह परम्परा है कि संघ में सात पद होते हैं। महावीर की परम्परा आपने कैसे मिटा दी?' आचार्य भिक्षु ने कहा—'सातों पदों को मैं ही देख रहा हूँ।' जब राष्ट्रपति शासन होता है तब पूरा मन्त्रिमण्डल उसमें समाहित हो जाता है। शास्त्रों की परम्परा के अनुसार यदि तेरापंथ में सात पद रख भी दिए जाते तब भी उसका रूप नहीं बन पाता। जो अनुशासन, जो संगठन, जो व्यवस्था आज तेरापंथ में है वह न केवल भारतीय समाज में बल्कि पूरे संसार के धार्मिक सम्प्रदायों में अद्वितीय मानी जा रही है। उसके पीछे है आचार्य भिक्षु का वर्तमान युग-चेतना के साथ तादात्म्य और विवेकपूर्ण दृष्टि। आचार्य भिक्षु ने कुछ घोषणाएं कीं, कुछ ऐसे सिद्धान्त दिए, जो आगमों में स्पष्ट नहीं हैं, पर उन्होंने उनको इतना विकसित किया कि आज वे वर्तमान के विचार बन रहे हैं।

तेरापंथ की विचारधारा सदैव युग के साथ चली है और हमारी मान्यता रही है कि तेरापंथ का आचार्य वह होता है जो वर्तमान युग का प्रतिनिधित्व करता है। जब आचार्य भिक्षु की जरूरत थी तब आचार्य भिक्षु जन्मे, जयाचार्य की जरूरत थी तो जयाचार्य, कालूगणी की जरूरत थी तो कालूगणी और आचार्य तुलसी की जरूरत हुई तो आचार्य तुलसी जन्मे। अगर आचार्य तुलसी आज से दो सौ वर्ष पहले जन्म लेते और जयाचार्य आज जन्म लेते तो यह विपर्यय होता, किन्तु जयाचार्य की जरूरत थी दो सौ वर्ष पहले, जब तेरापंथ की विचारधारा को

गतिमान् बनाना था और आचार्य तुलसी की जरूरत है आज, जब युग-चेतना के साथ अणुव्रत के माध्यम से तेरापंथ की विचारधारा को जोड़ना है।

आज के युग की अपेक्षा है—शारीरिक, मानसिक एवं भावात्मक समस्याओं के समाधान की। गरीबी की समस्या का समाधान धार्मिक मंच से नहीं, अपितु कृषि के विकास से होगा; किन्तु मानसिक समस्या का समाधान भौतिक जगत् के पास नहीं है। किसी वैभव की सत्ता में इतनी ताकत नहीं जो इस समस्या का समाधान दे सके, एक मात्र धार्मिक और आध्यात्मिक मंच ही इस समस्या को समाधान दे सकते हैं। तेरापंथ ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की क्षमता अर्जित की है। अपेक्षा उसी से की जा सकती है जिसके पास शक्ति हो। स्वयं शक्तिहीन दूसरों की समस्या का समाधान नहीं दे सकता। बुझी हुई राख कभी प्रकाश नहीं दे सकती, प्रज्वलित ज्योति ही अन्धकार को प्रकाश में बदल सकती है। तेरापंथ ने स्वयं शक्ति अर्जित की है। अनुशासन, संगठन, व्यवस्था, अहंकार और ममकार का विसर्जन, सत्यनिष्ठा और ब्रह्मचर्य—ये हमारी शक्ति के स्रोत हैं।

जो संघ अपने संयम और अनुशासन से शक्ति-सम्पन्न हो, उससे मानव जाति अपेक्षा रखती है। आचार्य तुलसी ने उन अपेक्षाओं को पूरा करने का प्रयत्न किया है—अणुव्रत के माध्यम से, प्रेक्षा-ध्यान के माध्यम से, नये विचार और सृजनात्मक दृष्टिकोण के माध्यम से।

आज तक तेरापंथ की ओर से किसी भी सम्प्रदाय के विरोध में दो पंक्तियां भी नहीं लिखी गई हैं। सवा दो सौ वर्षों का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। जिसका इतना सृजनात्मक और रचनात्मक दृष्टिकोण रहा हो, वह देने की क्षमता में आता है। इस महान् शक्तिशाली, दायित्व-बोध, युगबोध और युग-चेतना के साथ चलने वाले संघ को प्रणाम।*

* तेरापंथ स्थापना दिवस पर प्रदत्त वक्तव्य।

३५. जैन परम्परा में सेवा का महत्त्व

जैन साधुओं के लिए विहार करने का विधान है। अपवाद भी है—यदि शारीरिक स्थिति ठीक न हो, या बुढ़ापे के कारण चला न जा सके तो वे स्थिरवास भी कर सकते हैं। स्थिरवास रहना कोई नहीं चाहता। चर से स्थावर कौन बने? परन्तु परिस्थितिवश बनना पड़ जाता है, यह दूसरी बात है। स्थिर का महत्त्व नहीं, महत्त्व होता है गति का, चलने का। जब स्थिरवास का महत्त्व नहीं तब शताब्दी किसकी मनायें? नहीं, महत्त्व स्थिर का नहीं, महत्त्व है सेवा का, संगठन का। शताब्दी उसी की स्मृति में मनाई जाती है। आज हमें इसकी शताब्दी मना रहे हैं।

प्रश्न उठता है, मनुष्य संग्रह क्यों करते हैं? यदि हम सीधा समाधान खोजें तो यही है—जीवन की सुरक्षा के लिए मनुष्य में संग्रह की भावना जागृत होती है। वह सोचता है बुढ़ापे में रोग आएगा तब क्या होगा? बुढ़ापे में क्या होगा? इसकी चिन्ता उसे संग्रह करने को प्रेरित करती है। परन्तु तेरापन्थ की यह विशेषता है कि बुढ़ापे में किसी को सुरक्षा की चिन्ता नहीं रहती। साधु-साध्वी के कोई शिष्य नहीं होता; शिष्य एकमात्र आचार्य के होते हैं। फिर भी सुरक्षा के लिये शिष्य बनाने की कल्पना तक नहीं होती। हमारे दूरदर्शी आचार्यों ने शिष्य परम्परा के स्थान पर सेवा-भाव की वृत्ति देकर सुन्दर समाधान दिया। अन्यथा शिष्य बनने की भावना सहज होती।

एक साध्वी यदि बीमार पड़ती है तो उसकी सेवा के लिए १० या १५ जितनी आवश्यकता हो, साध्वियां तत्पर रहती हैं। प्रसंग भी आया है कि एक साध्वी के मार्ग में चोट लग गई। चलना दुष्कर हो गया। १५ साध्वियां उस घटना स्थल पर पहुंच गईं और उस साध्वी को कन्धों पर बिठाकर सुखपूर्वक स्थान पर ले आईं। यह है तेरापन्थ शासन की सेवा भावना।

२०६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

लाडनूँ सेवा केन्द्र १०० वर्षों का ज्वलन्त उदाहरण है। मर्यादा-महोत्सव पर साध्वियां आचार्य से प्रार्थना करती रहती हैं कि मुझे 'चाकरी के लिए लाडनूँ भेजें', दूसरी कहती है 'मेरे पर कृपा करावें।' तीसरी कहती है 'मेरे पर।' इस प्रकार वह दृश्य दर्शनीय बन जाता है। दूसरी तरफ आज के मानव के मानस को देखते हैं तो ऐसा लगता है—प्रायः सेवा से जी चुराते हैं। कहीं करनी पड़े तो परवशता है परन्तु भावना यही रहती है कि न करनी पड़े।

भद्रबाहु स्वामी ने संघ का उपद्रव दूर करने के लिए 'उवसग्ग हर स्तोत्र' रचा। कई श्रावक-श्राविकाओं ने उसे याद किया। एक समय एक बहिन का बछड़ा घर से बाहर चला गया। उसने सोचा—कौन बाहर जाएगा। स्तोत्र पढ़ा, देव आया, पूछा—'कहो, क्या काम है।' बहिन ने कहा—'मेरे बछड़े को ढूंढ कर घर पर लाओ।' एक दूसरी बहिन भोजन पका रही थी। उसके छोटे बच्चे ने घर के आंगन में मल विसर्जन कर दिया। उसने स्तोत्र पढ़ा, देव आया, काम पूछा। बहिन ने कहा—'बच्चे ने आंगन खराब किया है इसे साफ कर दो।' देवता ने वैसा ही किया। फिर देवताओं ने भद्रबाहु स्वामी के पास प्रार्थना की—'भगवन्! हमारी तो यह दशा है। लोग हमें ऐसे तंग करते हैं।' भद्रबाहु स्वामी ने उसमें से प्रभावी पाठ को अलग कर दिया। तात्पर्य यह है कि काम करने से जी चुराया जाता है। किन्तु ये साध्वियां अपवाद हैं। जब साध्वियां सेवा के लिए प्रार्थना करती हैं, उस समय उनका उत्साह मूर्तरूप ले लेता है। जब तक वे लाडनूँ में स्थिर सतियों की एक वर्ष की सेवा नहीं कर लेतीं तब तक उन्हें भार महसूस होता है। मनु ने कहा—पितृऋण चुकाए बिना मनुष्य की गति नहीं होती चाहे वह संन्यास क्यों न ले ले। बिना पितृऋण के उनकी गति नहीं होती। सम्भवतः सतियां भी यही सोचती होंगी कि बिना लाडनूँ की सेवा किए हमारी गति कहीं अटक न जाए। इसी सेवा-भाव ने साधु-मानस से शिष्य परम्परा को जड़-मूल से मिटा दिया।

जैन परम्परा में सेवा का महत्त्व

• सेवा के लिए सूत्रों में दो शब्द आए हैं—वैयावडिय और वैयावच्च।

वैयावडिय का संस्कृत रूप है वैयापृत्य, व्याप्तस्य भाव : वैयापृत्यं अर्थात् जुट जाना, लग जाना।

दूसरे शब्द वैयावच्च का संस्कृत रूप बनता है वैयावृत्यं अर्थात् एक रूप का दूसरे में रूपान्तर होना। सेवा करने वाला रोगी को अपना दूसरा रूप मानें। उसमें आत्मोपम्य या अद्वैत की भावना बनाए, तभी वह सफल सेवक हो सकता है। जहां द्वैध का भाव आता है वहां ग्लानि होने लगती है। जहां ग्लानि होती है वहां सेवा भाव टूट जाता है। उदाहरण के तौर पर इसका स्पष्ट रूप हमने श्री मगनमलजी स्वामी और श्री पन्नालालजी स्वामी में प्रत्यक्ष देखा।

भगवान् ने निशीथ सूत्र में सेवा पर बल दिया है। एक साधु बीमार हो। दूसरे साधु को यह ध्यान हो जाए कि इसे सेवा की आवश्यकता है। उस समय वह यदि जी चुराता है तो उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

ओघनिर्युक्ति में लिखा है—“सर्वं खलु पड़िवाई, वैयावच्चं अपड़िवाई” स्वाध्याय और स्मरण प्रतिपाती हैं—चले जाते हैं। एक व्यक्ति ने १०० श्लोक याद किये। स्मरण के बिना वे भूले जा सकते हैं, ऐसा भी सम्भव है कि उसे बिलकुल भी याद न रहे। इस प्रकार वे मिट जाते हैं लेकिन सेवा कभी नहीं मिटती। इसीलिए आचार्यों ने बल दिया कि सेवा करो—सेवा करो।

गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा—“वैयावच्चेणं भन्ते जीवे किं जणयइ?” भगवान् ने प्रश्न के उत्तर में कहा—“वैयावच्चेणं तित्थयर नाम गोत्र कम्मं निबन्धइ। वैयावृत्य से तीर्थकर नाम गोत्र कर्म बन्धता है। जैन परम्परा में दृश्य पदों में तीर्थकर का पद सर्वोत्कृष्ट है। तीर्थकर पद प्राप्त होने के बीस कारण हैं। उनमें कुल, गण और संघ का वैयावृत्य करना भी उसकी प्राप्ति का कारण है। इस प्रकार आगमों और ग्रन्थों में सेवा का महत्त्व बताया गया है, उस पर बल दिया गया है।

कथा-साहित्य में सेवा

कथा-साहित्य में भी सेवा का गुण गौरव हमें मिलता है। भरत चक्रवर्ती और बाहुबलि दोनों भाई थे, भगवान् ऋषभदेव के पुत्र थे। भरत

२०८ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

ने छह खण्ड पर विजय प्राप्त की। चक्र आया लेकिन आयुधशाला में न घुसा। भरत ने सोचा—क्या अब भी कोई जीतना अवशेष है। ध्यान लगाने पर मालूम हुआ—बाहुबलि इसमें बाधक बन रहा है। निमन्त्रण भेजा। फिर भी बाहुबलि नहीं आये। १२ वर्ष तक युद्ध चला। आखिर दोनों भाइयों ने पांच लड़ाइयां लड़ीं। उन सबमें भरत हारा और बाहुबलि जीता। मुष्टि-युद्ध में भरत ने बाहुबलि पर मुष्टि मारी तो बाहुबलि कुछ नीचे चले गए। बाहुबलि ने मुष्टि का प्रहार किया तो भरत गले तक भूमि में धंस गए।

इसका कारण क्या था? कारण यही था कि बाहुबलि ने पूर्व-भव में साधुओं की सेवा की थी। उसी के प्रभाव से वह इतना शक्तिशाली बना था। सेवाभाव के लिए नंदिषेण जैसी अनेक कथाएं प्रचलित हैं। ओघनिर्युक्ति में सेवा करनेवाले साधुओं की विशेष संज्ञा 'वृषभ' है। उनकी व्यवस्था भी अलग होती थी। उनका जीवन सेवा में ही व्यस्त रहता था। **सेवाधर्मः परमगहनः योगिनां—सेवाधर्म** की महिमा प्रायः सभी ने मुक्तकण्ठ से गाई है। हमारा सौभाग्य है कि तेरापन्थ सम्प्रदाय में इसका सजीव-चित्र हमें देखने को मिलता है। आज भी यह परम्परा अक्षुण्ण चली आ रही है। सेवा-भावी सन्त-सती इस मंगलमयी परम्परा का और अधिक विकास करें—यही मैं चाहता हूं।

* स्थिरवासिनी साध्वियों के शताब्दी समारोह पर प्रदत्त प्रवचन।

३६. आवश्यक है संवत्सरी की समस्या का समाधान

संवत्सरी जैन शासन का सबसे बड़ा पर्व है। यह धर्मारोधना का पर्व है। इसलिए इसका महत्त्व सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। वर्तमान में यह परम्परा भेद के कारण विवाद का विषय बना हुआ है। सब चाहते हैं कि इस विवाद का कोई समाधान हो। समाधान के लिए हमें अतीत में लौटना होगा। भगवान् महावीर से आधुनिक परम्परा तक का अध्ययन करना होगा। इस अध्ययन के तीन चरण हैं—

१. आगमकालीन व्यवस्था
२. प्राचीन परम्परा
३. आधुनिक परम्परा।

आगमकालीन व्यवस्था

आगम युग में संवत्सरी जैसा शब्द प्रचलित नहीं था। संवत्सरी का मूल नाम है—पर्युषणा। पर्युषणा के विषय में आगमों में अनेक निर्देश मिलते हैं—

निशीथ के अनुसार जो भिक्षु पर्युषणा में पर्युषणा नहीं करता, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

जो भिक्षु अपर्युषणा में पर्युषणा करता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

पर्युषणाकल्प के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर ने वर्षा ऋतु के पचास दिन बीत जाने पर वर्षावास की पर्युषणा की थी।

गणधरों, स्थविरों और आधुनिक श्रमण निर्ग्रन्थों ने भी उस परंपरा का अनुसरण किया। इसमें केवल पचास दिन का उल्लेख है।

समवायांग सूत्र में उत्तरवर्ती दिनों का भी उल्लेख किया गया है।

२१० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

उसके अनुसार श्रमण भगवान् महावीर ने वर्षावास के पचासवें दिन तथा सत्तर दिन शेष रहने पर वर्षावास की पर्युषणा की।

प्राचीन परम्परा

भाष्य और चूर्णिकालीन परम्परा पर्युषणा की प्राचीन परंपरा है। निशीथ चूर्ण के अनुसार आषाढ़ पूर्णिमा से प्रारम्भ कर पचास दिन तक पर्युषण की स्थापना की जाती थी। सामान्यतः संवत्सरी के प्रथम दिन पर्युषण की स्थापना की जाती थी। कारणवश परिवर्तन करना होता तो अन्तिम तिथि भाद्रपद शुक्ला पंचमी होती—“ताहे भद्दवया जोण्हस्स पंचमीए पज्जोसवन्ति।”

आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन पर्युषणा करना उत्सर्ग मार्ग बतलाया है। अपवाद मार्ग में पांच-पांच बढ़ाने का निर्देश प्राप्त है। इसका नियम यह रहा कि पर्युषण पर्व तिथि में होना चाहिए, जैसे—पूर्णिमा, पंचमी और दसमी। अपर्व तिथियों में पर्युषण करने का निषेध है। चतुर्थी को अपर्व तिथि माना गया है। कालकाचार्य ने चतुर्थी के दिन संवत्सरी की, वह सामान्य विधि नहीं है। चूर्णिकार ने उसे कारणिक—किसी प्रयोजन विशेष से किया गया उपक्रम बतलाया है। उन्होंने लिखा है—“एवं जुगप्पहाणेहिं चउत्थी कारणे पवतिता।” पर्युषणाकल्प में स्पष्ट उल्लेख है कि पर्युषणा के लिए पंचमी का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए।

आधुनिक परम्परा

आधुनिक परम्परा में पर्युषण के स्थान पर संवत्सरी शब्द का प्रयोग हो रहा है। पर्युषणा शब्द का प्रयोग संवत्सरी के सहायक दिनों के लिए होता है। पर्युषणा का मूल रूप संवत्सरी के नाम से प्रचलित हो गया। प्राचीन काल में पर्युषणा का एक ही दिन था। वर्तमान में अष्टाह्निक पर्युषणा मनाई जाती है। संवत्सरी का पर्व आठवें दिन मनाया जाता है। दिगम्बर परम्परा में आधुनिक संवत्सरी के संदर्भ में संवत्सरी शब्द का प्रचलन नहीं है। उनकी परम्परा में दस लक्षण पर्व मनाया जाता है। सामान्य विधि के अनुसार उसका प्रथम दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी का दिन होता है। श्वेताम्बर परंपरा में पंचमी से पहले सात दिन जोड़े गए

हैं और दिगम्बर परम्परा में नौ दिन उसके बाद जोड़े गए हैं। मूल दिन (पंचमी) में कोई अन्तर नहीं है।

संवत्सरी : आज की समस्याएं

संवत्सरी के संबंध में मुख्य समस्याएं चार हैं—

१. दो श्रावण मास
२. दो भाद्रपद मास
३. चतुर्थी और पंचमी
४. उदिया तिथि और घड़िया तिथि।

जैन ज्योतिष के अनुसार वर्षा ऋतु में अधिक मास नहीं होता। इस दृष्टि से दो श्रावण मास और भाद्रपद मास की समस्या ही पैदा नहीं होती। ज्योतिष के अनुसार वर्षा ऋतु में अधिक मास हो सकता है। दो श्रावण मास या दो भाद्रपद मास होने पर पर्वाराधना की विधि इस प्रकार है—कृष्ण पक्ष के पर्व की आराधना प्रथम मास के कृष्ण पक्ष में और शुक्ल पक्ष के पर्व की आराधना अधिमास के शुक्ल पक्ष में।

समस्या अधिक मास की

जैन संप्रदायों में कुछ सम्प्रदाय दो श्रावण होने पर दूसरे श्रावण में पर्युषणा की आराधना करते हैं। भाद्रपद मास दो हों तो प्रथम भाद्रपद में पर्युषणा की आराधना करते हैं। ऐसा करने वालों का तर्क यह है कि संवत्सरी की आराधना पचासवें दिन करनी चाहिए। इस तर्क में सिद्धांत का एक पहलू ठीक है। किन्तु उसका दूसरा पहलू ७० दिन शेष रहने चाहिए, विघटित हो जाता है। संपूर्ण नियम पहले ५० दिन और बाद में ७० दिन—दोनों पक्षों से सम्बन्धित है।

जो पचासवें दिन को प्रमाण मानकर संवत्सरी करते हैं, उनके शेष ७० दिनों का प्रमाण भी रहना चाहिए। इसी प्रकार ७० दिन शेष रहने की बात पर दो श्रावण होने पर भाद्रपद में और दो भाद्रपद होने पर दूसरे भाद्रपद में संवत्सरी करने की स्थिति में संवत्सरी से पहले ५० दिन की व्यवस्था विघटित हो जाती है। इस समस्या का समाधान खोजना जरूरी है। इसका सीधा-सा समाधान है अधिक मास को मलमास या

२१२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

लुप्तमास मानकर संख्यांकित नहीं करना। ऐसा होने से ५० दिन और ७० दिन दोनों की व्यवस्था बैठ सकती है।

वर्तमान में सभी जैन लौकिक पंचांग को आधार मानकर चल रहे हैं। इस दृष्टि से लौकिक ज्योतिष की धारणा को मान्य करके ही पर्व की आराधना करना उचित है। एक ओर आगमोक्त ५० और ७० दिनों का आग्रह, दूसरी ओर लौकिक ज्योतिष का आधार—ये दोनों बातें एक साथ संगत नहीं हो सकतीं। यदि ५० और ७० दिनों का आग्रह हो तो चातुर्मास में मास-वृद्धि अस्वीकार कर देनी चाहिए। यदि चातुर्मास में मास-वृद्धि की बात स्वीकार की जाती है तो लौकिक ज्योतिष के अनुसार पर्वाराधना की दृष्टि से पन्द्रह दिन (कृष्ण पक्ष) प्रथम मास में और पन्द्रह दिन (शुक्ल पक्ष) अधिमास में मान्य होते हैं। इस धारणा के आधार पर दो भाद्रपद मास होने की स्थिति में संवत्सरी पर्व की आराधना द्वितीय भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष में होनी चाहिए।

भाष्यकालीन परंपरा में चतुर्मास के तीन विकल्प मिलते हैं—

- जघन्य चतुर्मास ७० दिन का
- मध्यम चतुर्मास चार मास का
- उत्कृष्ट चतुर्मास छह मास का।

‘भगवती आराधना’ दिगम्बर परंपरा का प्रधान ग्रन्थ है। उसकी परंपरा यह है—“उत्सर्ग विधि के अनुसार चतुर्मास १२० दिन का होता है। किन्तु कारण की अपेक्षा वह हीन और अधिक भी हो सकता है।” दिगम्बर परंपरा के आधार पर भी यही बात प्रमाणित होती है कि ५० और ७० दिन का उत्सर्ग नियम है। अपवाद विधि के अनुसार इसके अनेक विकल्प हो सकते हैं।

श्वेताम्बर परंपरा में विरोधाभास इसलिए पल रहा है कि वहां एक ओर वर्षावास के १२४ दिन मान्य किए गए हैं, दूसरी ओर लौकिक पंचांग मान्य किया गया है। उसके अनुसार वर्षावास में १२० दिन प्रायः नहीं होते। कुछ वर्षों की तालिका यहां प्रस्तुत की जा रही है—

वर्ष	संवत्सरी	शेष
वि. सं. १९४६	४६ दिन	६६ दिन
वि. सं. १९४७	४६ दिन	६६ दिन
वि. सं. १९४८	४६ दिन	६६ दिन
वि. सं. १९४९	४६ दिन	७० दिन

इस विरोधाभास को मिटाने के लिए एक नई परंपरा के सूत्रपात की अपेक्षा है। उस नई परंपरा का क्रम ऐसा होना चाहिए, जिसमें सब सम्प्रदायों का ऐकमत्य हो जाए और लौकिक पंचांग को मान्य कर सारी व्यवस्था पर चिन्तन किया जाए।

समस्या चतुर्थी और पंचमी की

तिथि की समस्या के मुख्य आधार दो हैं—

१. कालकाचार्य द्वारा अपवाद रूप में की गई चतुर्थी की संवत्सरी।

२. पचास और सत्तर दिन की संगति बिठाने के लिए कभी-कभी पंचमी के स्थान पर चतुर्थी को की जाने वाली संवत्सरी।

एक तीसरा विकल्प और बनता है—संवत्सरी से पूर्व ४८ और ५१ दिन मान्य नहीं है। इसी प्रकार संवत्सरी के बाद ६८ और ७१ दिन मान्य नहीं है। यदि संवत्सरी के बाद चातुर्मास में ६८ दिन शेष रहते हों तो संवत्सरी चतुर्थी को की जाती है। इसी प्रकार यदि पंचमी ५१वें दिन आती हो तो संवत्सरी चतुर्थी को की जाती है।

यद्यपि भाष्य-चूर्णिकाल में सामान्य विधि के अनुसार पंचमी की संवत्सरी ही मान्य रही है। यह ५० और ७० दिन के नियम के आधार पर की गई व्यवस्था है। ४६वें दिन संवत्सरी की परंपरा उत्तरकालीन प्रतीत होती है। ऐसा प्रसंग कभी-कभी आता है।

समस्या उदिया तिथि और घड़िया तिथि की

तिथि के विषय में ज्योतिष में दो धारणाएं प्रचलित हैं—एक धारणा के अनुसार सूर्योदय के साथ तिथि का परिवर्तन मान्य है। दूसरी धारणा घड़ी के आधार पर तिथि-परिवर्तन का सिद्धांत मान्य करती है।

तिथि का नामोल्लेख सूर्योदय के साथ होने वाली तिथि का होता है

२१४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

जैसे—चतुर्दशी का सूर्य उगता है, वह तिथि चतुर्दशी कहलाती है। अष्टमी के दिन सूर्योदय होता है, वह तिथि अष्टमी कहलाती है।

हो सकता है, घड़ी के अनुसार सूर्योदय के समय चतुर्दशी तिथि बहुत कम समय के लिए शेष हो, फिर भी चतुर्दशी कहलाती है क्योंकि हमारा सारा व्यवहार और लौकिक व्यवहार भी उदय तिथि के आधार पर चलता है। अष्टमी, चतुर्दशी के दिन किए जाने वाले धार्मिक अनुष्ठान और प्रत्याख्यान उदय तिथि के आधार पर संपन्न किए जाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल संवत्सरी के लिए घड़ी के आधार पर परिवर्तित तिथि को स्वीकार करने का कोई कारण समझ में नहीं आता।

ज्ञात हुआ है कि इस वर्ष घड़िया तिथि के आधार पर महावीर जयन्ती भी दो दिन मनाई गई। समझ में नहीं आ रहा है कि जब हमारे अष्टमी, चतुर्दशी के अनुष्ठान उदय तिथि के आधार पर हो सकते हैं तो संवत्सरी आदि पर्व क्यों नहीं हो सकते? इसी प्रकार पाक्षिक और चातुर्मासिक प्रतिक्रमण उदय तिथि के आधार पर किए जा रहे हैं और संवत्सरी प्रतिक्रमण के लिए घड़िया तिथि का प्रयोग किया जाता है। इस भेद का कारण भी समझ से परे है।

प्राचीन काल में वर्ष का प्रारम्भ दीपावली, रामनवमी आदि पर्व दिनों से होता था। सरकार के सामने कठिनाई आई। सभी प्राचीन परंपराओं को बदलकर एक नई परंपरा स्थापित की गई। उस परंपरा के अनुसार आर्थिक वर्ष का प्रारम्भ अप्रैल से होता है और उसका अन्त ३१ मार्च को होता है। अब भी दीपावली, दशहरा को पूजन करने वाले करते हैं, पर खाते-बहियों का प्रारम्भ सरकार द्वारा स्थापित वर्ष के प्रथम दिन एक अप्रैल से होता है।

संवत्सरी को लेकर परंपरा-भेद चल रहा है। उसके कारण उलझी हुई समस्या को सुलझाया जा सकता है, यदि व्यवहार को प्रधान मानकर कार्यक्रम का निर्धारण किया जाए।

संवत्सरी : एकीकरण के प्रयत्न

सब जैन एक ही दिन संवत्सरी पर्व की आराधना करें, इस विषय का चिंतन लगभग तीन-चार दशक से चल रहा है। प्रायः सभी संप्रदायों के

आचार्य, मुनि और प्रमुख श्रावक इस विषय में सहमति प्रकट करते हैं कि संवत्सरी एक दिन होनी चाहिए। किन्तु अपनी-अपनी परंपरा की पकड़ को न छोड़ने के कारण एकता की बात अधर में झूल रही है।

वि. सं. २०४२ (१०, ११ फरवरी, १९८६) उदयपुर में आचार्यश्री तुलसी की सन्निधि में संवत्सरी पर्व की एकता के लिए एक संगोष्ठी आयोजित की गई। उसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर—सभी परंपराओं के प्रतिनिधि उपस्थित हुए। उसमें संवत्सरी की एकता के लिए प्रभावी वातावरण बना। उस समय लिए गए निर्णय के अनुसार भारत जैन महामण्डल के तत्वावधान में 'अखिल भारतीय जैन एकता समन्वय समिति' गठित की गई। २३ अगस्त, १९८६ को बम्बई में भारत जैन महामण्डल के अधिवेशन का आयोजन था। उस अवसर पर 'जैन एकता समन्वय समिति' द्वारा सर्वानुमति से एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया—

संवत्सरी सम्बन्धी पारित प्रस्ताव

“महापर्व संवत्सरी की आराधना प्रतिवर्ष भाद्रव शुक्ला पंचमी को ही एवं जब कभी माह बढ़े तो प्रथम मास को मलमास/अधिक मानकर नहीं गिना जाए। इसी प्रकार तिथियों के बढ़ने में भी प्रथम तिथि को मल तिथि मानकर बाद कर दिया जाए। तिथि का निर्णय घड़ियों के आधार पर नहीं, बल्कि सूर्योदय अर्थात् उदया तिथि के अनुसार हो।

हमारी विनम्र अपील है कि समस्त जैन समाज इस प्रस्ताव को स्वीकार कर एक साथ ही संवत्सरी महापर्व की उपासना करे। माननीय राष्ट्रपतिजी और भारत सरकार से अनुरोध है कि इस दिन को 'क्षमा-अहिंसा दिवस' के रूप में घोषित कर सार्वजनिक अवकाश एवं देश भर में कल्लखाने बन्द करने का आदेश घोषित करें।”

जैसा विदित हुआ—इस प्रस्ताव को आचार्यश्री तुलसी, श्रमण-संघ के आचार्यश्री आनन्दऋषिजी महाराज तथा कुछ मूर्तिपूजक आचार्यों ने मान्य किया। उसके आधार पर ही संवत्सरी पर्व की आराधना की गई। तीन-चार वर्ष के पश्चात् श्रमण संघ ने 'बम्बई प्रस्ताव' को अमान्य कर दिया। तेरापंथ धर्मसंघ में अभी भी संवत्सरी पर्व की आराधना 'बम्बई प्रस्ताव' के अनुसार हो रही है।

२१६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

आचार्य श्री तुलसी ने संवत्सरी पर्व की एकता के लिए अनेक बार घोषणा की थी—यदि जैन समाज संवत्सरी के लिए एक तिथि को मान्य करता है तो हम अपनी परंपरा में परिवर्तन भी कर सकते हैं। उस घोषणा के अनुरूप बम्बई प्रस्ताव को मान्य करने से संघीय परंपरा में परिवर्तन भी करना पड़ा। इन आठ वर्षों में परंपरा-परिवर्तन के दो प्रसंग उपस्थित हो गए—

● वि. सं. २०४५ में हमारी परंपरा के अनुसार संवत्सरी चतुर्थी को होनी चाहिए थी, पर प्रस्ताव के अनुसार हमने पंचमी को संवत्सरी मनाई।

● दूसरा प्रसंग इसी वर्ष (वि. सं. २०५०) में है। हमारी परंपरा के अनुसार प्रथम भाद्रपद मास में संवत्सरी मनाई जाती है, किन्तु बम्बई प्रस्ताव के अनुसार हमने दूसरे भाद्रपद मास में संवत्सरी पर्व की आराधना को मान्य किया है।

करना ही होगा समस्या का समाधान

पर्युषणा या संवत्सरी की परंपरा कोई मूल गुण नहीं है, जिसमें कोई परिवर्तन न किया जा सके। यह सामान्य विधि (उत्सर्ग विधि) और विशेष विधि (अपवाद विधि) युक्त परंपरा है। वास्तव में एकता का लक्ष्य पुष्ट हो तो इसमें परिवर्तन किया जा सकता है। संवत्सरी की भिन्नता को लेकर आने वाली समस्याओं के प्रति हमारी जागरूकता हो तो एक संवत्सरी मनाने की परंपरा का सूत्रपात करने में कहीं कोई सत्य का अतिक्रमण नहीं है। आवश्यकता है इस समस्या पर अनेकांत की दृष्टि से विचार हो और इस अहेतुक उलझन को समाप्त करने के लिए सभी आचार्य, मुनि और प्रबुद्ध श्रावक पहल करें। आखिर एक दिन इस समस्या का समाधान करना ही होगा।

जैन समाज के सामने और भी बड़ी-बड़ी समस्याएं हैं। इस छोटी-सी समस्या में उलझने पर बड़ी समस्याओं को सुलझाने का अवसर ही हाथ नहीं लगेगा। मैं विश्वास करता हूं कि हम सब इस विषय पर पूरी गंभीरता से चिन्तन करेंगे, द्वार अपने आप खुल जाएंगे।

ऐसा ज्ञात हुआ कि इस वर्ष दिगम्बर समाज दशलक्षण पर्व की

आवश्यक है संवत्सरी की समस्या का समाधान २१७

आराधना द्वितीय भाद्रपद में कर रहा है। अधिकांश मूर्तिपूजक समाज, तेरापंथ समाज और कुछ स्थानकवासी भी द्वितीय भाद्रपद में संवत्सरी पर्व की आराधना करेंगे। इस स्थिति में श्रमण संघ भी द्वितीय भाद्रपद में संवत्सरी मनाने का निर्णय करें तो संवत्सरी की दिशा में एक अच्छा चरणन्यास हो सकता है।*

* संवत्सरी की समस्या के संदर्भ में प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण वक्तव्य।

३७. जैन शासन की एकता : आचार की कसौटी

आचार की कसौटी

आचार की विशुद्धि, आचार की अशुद्धि, आचार की कठोरता और आचार की शिथिलता—इन शब्दों से हम बहुत परिचित हैं। कौन-सा आचार विशुद्ध है और कौन-सा अशुद्ध? कौन-सा आचार कठोर है और कौन-सा शिथिल? उसके लिए कसौटी क्या है? एक कसौटी निर्धारित करके ही हम उसकी जांच कर सकते हैं।

आचार की कसौटी है राग-द्वेष-मुक्तता। जिस क्रिया क्षण में रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति न हो, उसका नाम है आचार। आचार का उद्देश्य है वीतराग होना। वीतरागता का क्षण जिए बिना कोई व्यक्ति वीतरागता की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। इस कसौटी के आधार पर हम आचार की विशुद्धि और अशुद्धि की परीक्षा कर सकते हैं।

मूल आचार : उत्तर आचार

जैन साधना पद्धति में आचार पांच भागों में विभक्त है—ज्ञान आचार, दर्शन आचार, चरित्र-आचार, तप आचार और वीर्य आचार। विशुद्धि, अशुद्धि, कठोरता और शिथिलता की चर्चा मुख्यतया चरित्र-आचार के संदर्भ में ही की जाती है। शेष चार चर्चा के विषय नहीं बनते। चरित्राचार के मौलिक भेद पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। एक शब्द में इन्हें चरित्र या संयम कहा जाता है। इनकी साधना के लिए अनेक नियमों का निर्माण हुआ है। उन्हें भी आचार कहा जाता है। इस प्रकार आचार के दो रूप बन जाते हैं—मूल आचार (मूल गुण) और उत्तर आचार (उत्तर गुण)। मूल आचार वीतराग प्रवृत्ति

के साथ जुड़ा हुआ होता है इसलिए वह अपरिवर्तनीय है। उत्तर आचार मूल आचार की सुरक्षा पंक्ति के रूप में निर्धारित होता है इसलिए देश, काल और व्यक्ति के सन्दर्भ में उसमें परिवर्तन भी किया जाता है।

स्वाभाविक हैं यम

संयम और नियम का विभाग वैदिक साहित्य में भी मिलता है। एक प्रसिद्ध सूक्त है—

यमानभीक्ष्णं सेवेत,
न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो,
नियमान् केवलान् भजन्॥

संयम और नियम को एक ही दृष्टिकोण से देखने पर कुछ विभ्रम पैदा होता है। संयम या यम स्वाभाविक हैं। उन्हें कोई भी तीर्थंकर या आचार्य बदल नहीं सकता। रागद्वेष मुक्त प्रवृत्ति आचार है, इसके स्थान पर कोई भी यह स्थापना नहीं कर सकता कि राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति भी आचार है।

ब्रह्मचर्य की साधना का एक नियम है—मुनि वेश्या के मोहल्ले में गोचरी न जाए। आचार्य भद्रबाहु ने मुनि स्थूलभद्र को वेश्या की चित्रशाला में चतुर्मास बिताने की आज्ञा दी। यह व्यक्ति सापेक्ष परिवर्तन है।

सन्दर्भ आहार का

जैन शासन में मुख्य दो सम्प्रदाय हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। इन दोनों में नियम प्रधान आचार का बहुत भेद है। दिगम्बर मुनि दिन में एक ही बार आहार करते हैं, जल पीते हैं। श्वेताम्बर मुनि दिन में अनेक बार आहार-जल का उपयोग करते हैं। दिगम्बर अपने इस आचार को कठोर मानते हैं और श्वेताम्बरों के उस आचार को शिथिल मानते हैं। प्राचीन काल में एक भक्त भोजन की परम्परा रही है और उत्तरकाल में अनेक बार भोजन की परम्परा विकसित हुई है। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। भोजन एक ही बार करना, यह

२२० अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

नियम है। इसे संयम या मौलिक आचार की कोटि में नहीं रखा जा सकता। शरीर की सामर्थ्य हो तो एक बार ही भोजन करना बहुत अच्छी बात है। यदि किसी की सामर्थ्य न हो तो दो बार भोजन करने में क्या बाधा है? राग-द्वेष या मूर्च्छा का प्रसंग यदि दो बार करने में हो सकता है तो वह एक बार में भी हो सकता है।

सन्दर्भ पात्र का

श्वेताम्बर मुनि पात्र में भोजन करते हैं और दिगम्बर मुनि करपात्री हैं। पात्र न रखना बहुत अच्छी बात है, विशेष नियम है। इस नियम को अपरिवर्तनीय कैसे माना जा सकता है? हाथ का पात्र के रूप में उपयोग करना एक सीमा का निर्धारण है। ठीक उसी प्रकार हाथ और पात्र—दोनों का उपयोग करना एक सीमा का निर्धारण है। इसे अपनी-अपनी सीमा का निर्धारण ही कह सकते हैं, इससे आगे नहीं ले जा सकते। यदि पात्र रखने को मूर्च्छा के साथ जोड़े तो कमण्डलु को उसमें कैसे बचा पाएंगे? यदि पात्र रखना मूर्च्छा या परिग्रह है तो कमण्डलु रखने में मूर्च्छा या परिग्रह क्यों नहीं है? दिगम्बर परम्परा में अनिवार्यता की दृष्टि से जैसे कमण्डलु रखने को विहित मान लिया गया वैसे ही श्वेताम्बर परम्परा में अनिवार्यता की दृष्टि से भोजन-पात्र रखने को विहित मान लिया गया। इसे सीमा का विस्तार कहा जा सकता है पर अतिक्रमण नहीं कहा जा सकता। अनिवार्यता का सूत्र पात्र के साथ भी जुड़ा रहे, यह आवश्यक है।

संभावना की दृष्टि

बहुत सारे नियम सुरक्षात्मक संभावना की दृष्टि से निर्धारित किए गए। तेरापंथी मुनि यात्रा काल में यात्रियों का आहार ग्रहण करते हैं। स्थानकवासी मुनि यात्रियों का आहार नहीं लेते। न लेने के पीछे संभावना का दृष्टिकोण ही हो सकता है। संभव है गृहस्थ साधु के लिए आहार बना दे। यह संभावना एक गांव में भी की जा सकती है। ब्रह्मचर्य की नौ बाड़ में अनेक नियम संभावना की दृष्टि से बनाए गए हैं। संभावना की दृष्टि से सैकड़ों-सैकड़ों नियमों का निर्माण किया गया है।

निसैनी पर चढ़कर ऊपर के माले से लाकर भिक्षा दे उसे लेने का निषेध किया गया है। ऊपर चढ़ने वाला चढ़ते या उतरते समय कहीं गिर जाए तो उसके हाथ-पैर भी टूट जाते हैं और जीवों की विराधना भी हो जाती है। ऐसी संभावना ध्यान में रखकर वैसी भिक्षा लेने का निषेध किया गया।

संदर्भ वस्त्र प्रक्षालन का

श्वेताम्बर परम्परा में अनेक मुनि वस्त्र नहीं धोते और अनेक मुनि वस्त्र धोते हैं। मलिन वस्त्र पहनने के पीछे यही तर्क है—कपड़ा धोने से विभूषा का भाव आने की संभावना है।

इस प्रकार सैकड़ों नियम हैं, जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ने भिन्न-भिन्न रूप में अपने-अपने सम्प्रदाय में लागू किए हैं। जिस सम्प्रदाय के आचार्य को जो उचित लगा, वैसे नियम बनाए और उन्हें स्थायित्व प्रदान किया। छेद सूत्रों में भी ऐसे अनेक नियम हैं, जो उस समय की परिस्थिति से सापेक्ष हैं। आज परिस्थिति के बदल जाने पर वे नियम भी अपने आप में कृतार्थ हो गए।

कसौटी है संयम

ये कुछ उदाहरण इसलिए मैंने प्रस्तुत किए हैं कि इन नियमों के आधार पर आचार की कठोरता और शिथिलता का निर्धारण किया जाए तो वह उचित नहीं होगा। नियम आचार की कसौटी नहीं बन सकते। आचार की कसौटी बनने की क्षमता संयम या महाव्रतों में है। अधिकांश लोग परम्परा भेद और नियम भेद के आधार पर आचार की कठोरता और शिथिलता का निर्धारण करते हैं तथा उसके आधार पर साम्प्रदायिक असद्भावना की डोरी को आगे खींचते जाते हैं।

बावन अनाचार : संयम या नियम

मुनि के लिए बावन आचार निर्दिष्ट हैं। उनमें सब एक कोटि के नहीं हैं। कुछ अनाचार संयम से संबद्ध हैं, कुछ नियम से संबद्ध हैं। मुनि औद्देशिक आहार न लें, इस निषेध का संबंध संयम से, अहिंसा महाव्रत से है। मुनि पैरों में पादुका न पहने, इस निषेध का संबंध नियम से है,

२२२ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

इसीलिए यह परिवर्तनीय है। एक स्थविर मुनि पादुका पहन सकता है। चिकित्सा कराना मुनि के लिए अनावश्यक है। श्वेताम्बर और दिगम्बर सब मुनि चिकित्सा कराते हैं। क्या इसे आचार की शिथिलता मानें? 'ब्युत्सृष्ट्यक्तदेहे' साधना की भूमिका के लिए चिकित्सा कराना अनाचार हो सकता है किन्तु एक सामान्य मुनि के लिए अनाचार कैसे कहा जाए? हमने नियमों के पीछे जो अपेक्षाएं थीं, उन्हें समझने का प्रयत्न कम किया है, नियम की भाषा को पकड़ने का प्रयत्न अधिक किया है इसीलिए हमारे सामने उलझनें अधिक हैं, समाधान कम हैं।

महावीर और पार्श्व

भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर की परम्परा में आचार विषयक भेद बहुत था इसीलिए उनके शिष्यों के मन में संदेह भी पैदा होता रहता था। आगम साहित्य में उसके अनेक प्रसंग मिलते हैं। इससे फलित होता है कि साधुत्व की मूल अवधारणा पांच महाव्रत अथवा अठारह पाप के प्रत्याख्यान से जुड़ी हुई है। शेष नियम साधुत्व के विशेष प्रयोग हैं। भगवान् पार्श्व ने प्रतिक्रमण और पर्युषण को अनिवार्य नहीं बतलाया। भगवान् महावीर ने इन्हें अनिवार्य नियम बना दिया। इसका अर्थ इतना ही है कि साधुत्व की सामान्य भूमिका को दोनों तीर्थकरों ने प्रतिपादित किया। विशेष प्रयोगों के लिए उनका अपना-अपना दृष्टिकोण था। हम सामान्य और विशेष दोनों को एक ही तराजू से न तोलें।

प्रश्न मूल गुण का

श्वेताम्बर परम्परा में मूलगुण पांच हैं। दिगम्बर परम्परा में मूल गुणों की संख्या अट्ठाईस है—पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांच इंद्रियों का निरोध, केशलोच, छह आवश्यक, अचेलकत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधवन, खड़े-खड़े भोजन और एक बार आहार। यह भेद एक विचिकित्सा उत्पन्न करता है इसीलिए दिगम्बर मानस में श्वेताम्बर साधु की शिथिलता झलकती है। वह नग्न मुनि को ही मुनि के रूप में स्वीकार करता है। किसी वस्त्रधारी मुनि को मुनि मानने के लिए उसका अन्तर्मन उल्लसित नहीं होता। इस विषय को संयम की कसौटी पर नहीं

कसा जाता, केवल नियम के आधार पर कसा जाता है। यदि वस्त्र का संबंध अपरिग्रह महाव्रत से जोड़ा जाए तो अन्य उपकरण परिग्रह के साथ कैसे नहीं जुड़ेंगे? शरीर भी एक परिग्रह है। पेन, पेंसिल, चश्मा, पिच्छी आदि उपकरणों को परिग्रह माने या अपरिग्रह? इस बिन्दु पर हमें यह स्वीकार करना होगा कि अपरिग्रह महाव्रत दोनों परम्पराओं को मान्य है किन्तु उसकी व्याख्या दोनों की एक नहीं है।

संदर्भ सचित्त-अचित्त का

मुनि कच्चा (सचित्त) जल न ले, यह सिद्धान्त सभी सम्प्रदायों में मान्य है किन्तु उसकी व्याख्या सबकी एक नहीं है। तेरापंथ के मुनि राख से प्रासुक बना हुआ पानी लेते हैं। कुछ स्थानकवासी सम्प्रदाय उसे कच्चा (सचित्त) जल मानते हैं।

पक्का फल अचित्त होता है, यह सिद्धान्त श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं को मान्य है। दिगम्बर मुनि पके फल का उपयोग करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में पके फल के रस और गूदे को अचित्त माना जाता है, छिलके और गुठली को सचित्त माना जाता है। इस प्रकार मूल गूदे की व्याख्या में भी एकरूपता नहीं है। इस अनेकरूपता के कारण ही अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आए हैं।

संदर्भ हिंसा और अहिंसा का

व्याख्या भेद या दृष्टिकोण का भेद भी आचार की भिन्नता का कारण बना है। अहिंसा महाव्रत मुनि के लिए है। वह सभी परम्पराओं में मान्य है। कोई भी परम्परा उसे अमान्य नहीं करती किन्तु अहिंसा के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या में सब एक मत नहीं हैं। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के साधु दिन के प्रथम प्रहर और चौथे प्रहर में सिर ढककर चलते हैं। उनका अभिमत है—सूक्ष्म अप्काय के जीवों की वर्षा होती है। खुले आकाश में जाने से उनकी हिंसा होती है। तेरापंथ सम्प्रदाय के साधु रात को खुले आकाश में न बैठते हैं, न सोते हैं। स्थानकवासी सम्प्रदाय की भी प्रायः यही परम्परा है। दिगम्बर मुनि रात को खुले आकाश में सोने में कोई हिंसा नहीं मानते।

दिगम्बर मुनि खुले मुंह बोलने में हिंसा नहीं मानते। मूर्तिपूजक

२२४ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

सम्प्रदाय के मुनि आगम स्वाध्याय के समय खुले मुंह नहीं बोलते। खुले मुंह बोलने में हिंसा होती है, यह स्पष्ट अवधारणा परिलक्षित नहीं होती। स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय के मुनि खुले मुंह बोलने में हिंसा मानते हैं और मुखवस्त्रिका भी बांधते हैं।

हमारी मानसिकता

दिगम्बर परम्परा में स्त्रियां मुनि के चरणों का स्पर्श करती हैं। श्वेताम्बर परम्परा में वे मुनि के चरणों का स्पर्श नहीं करतीं। तेरापंथ की परम्परा में रात को व्याख्यान होता है, स्त्रियां भी उसमें सम्मिलित होती हैं। स्थानकवासी परम्परा में रात को स्त्रियां व्याख्यान में नहीं जा सकतीं। इस विषय में नियमों की एकरूपता नहीं है।

दिगम्बर परम्परा के संस्कार में पला हुआ व्यक्ति श्वेताम्बर मुनि को कपड़ा रखते हुए देखता है तो उसके मन में संघर्ष होता है कि यह कैसा साधु, जो वस्त्र रखता है। स्थानकवासी और तेरापंथ की परम्परा के संस्कार में पला हुआ व्यक्ति जब दिगम्बर मुनि को खुले मुंह बोलते देखता है तो मन ही मन सोचता है यह कैसा साधु, जो खुले मुंह बोलता है।

युग की मांग

इस प्रकार व्याख्या भेद की अनेक समस्याएं हैं, जो जैन शासन को विभक्त किए हुए हैं। क्या इन प्रश्नों को सुलझाए बिना जैन शासन की एकता की बात को आगे बढ़ाया जा सकता है? बहुत बार प्रश्न होता है—जैनों में इतने सम्प्रदाय क्यों? इसका उत्तर भी साफ है। आचार्यों के चिंतन की भिन्नता ने सम्प्रदायों को जन्म दिया है। क्या जैनशासन फिर एक शासन के रूप में उपस्थित हो सकता है। एकता का अर्थ यदि नियमगत आचार और विचार की समानता ही हो तो संभव नहीं है। विचारभेद होना विकास का लक्षण है। विकास से अविकास की ओर लौटना वांछनीय भी नहीं है। जैन शासन की एकता संभव है, यदि आचार की कसौटी संयम मानकर चलें, नियमों की अनेकता को एकता में बाधक न बनाएं, नियमों के आधार पर आचार की कठोरता एवं

शिथिलता का आरोपण न करें। आजकल अनेक साधु और अनेक श्रावक इस आचार विषयक कठोरता और शिथिलता की चर्चा में संलग्न हैं। मुझे लगता है—इसका परिणाम जैन शासन के लिए हितकर नहीं होगा। आचार की संयमात्मक कसौटी के आधार पर ही उसकी कठोरता और शिथिलता का अनुमापन हो तो एकता की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है। इस स्थिति का निर्माण अनेकान्त के द्वारा ही हो सकता है। जैन धर्म के अनुयायियों ने अनेकान्त का गुणानुवाद बहुत किया है, जीवन में उसका उपयोग कम किया है। युग की मांग है—अब उसका सम्यक् उपयोग करें, एकता की दिशा में चरण आगे बढ़ाएं।

नई समस्या

आज एक नई समस्या और पैदा हुई है—कुछ मुनि व्यक्तिशः अपने आचार का परिवर्तन कर रहे हैं। वे किसी परंपरा या सम्प्रदाय से अनुशासित नहीं हैं। यह मनोवृत्ति शायद सबसे अधिक खतरनाक है। इन सब समस्याओं के संदर्भ में एक विचार उभरता है— आज जैन शासन के चार मुख्य सम्प्रदायों की एक संगीति हो। इसमें मौलिक आचार अथवा पांच महाव्रतों के मूल स्वरूप का निर्धारण हो। वह जैन मुनि के मुनित्व की अनिवार्य अवधारणा हो। उत्तर गुण या उत्तर आचार की भिन्नता के आधार पर परस्पर एवं दूसरे को शिथिल या कठोर कहने की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति समाप्त हो तो साधु संस्था के लिए एक स्वस्थ परम्परा का निर्माण किया जा सकता है।

निष्कर्ष की भाषा

पांच महाव्रत, रात्रि-भोजन विरति व्रत, पांच समितियां, तीन गुप्तियां—इनकी आराधना में जागरूकता आए और इनकी पुष्टि में सहयोगी बनने वाले नियमों की अनिवार्यता रहे, ध्यान की परम्परा विकसित हो, शेष नियमों और व्याख्या भेदों को दीर्घकालिक चिंतन के बाद बदलने की स्थिति बने तो जैन शासन की गरिमा बढ़ेगी, मनमाना परिवर्तन करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगेगा और धीमे-धीमे आचार की एकता की दिशा में भी हमारे चरण आगे बढ़ेंगे।

२२६ अतीत का वसंत : वर्तमान का सौरभ

प्रस्तुत लेख के निष्कर्ष ये हैं—

● आचार की कसौटी है संयम। उसके आधार पर आचार की यथार्थ पालना अथवा शिथिलता का अनुमापन किया जा सकता है।

● नियमात्मक आचार का देशकाल सापेक्ष परिवर्तन होता रहता है। उसके आधार पर आचार की शिथिलता या कठोरता का अनुमापन नहीं किया जा सकता।

स्वीकृत नियमों में जब तक आचार्य द्वारा परिवर्तन न हो, तब तक उन नियमों का अनुपालन न करना भी आचार की शिथिलता है।

● कोई मुनि विशिष्ट साधना करता है। जैसे एक बार भोजन करता है, वस्त्र का प्रक्षालन नहीं करता। इसे आचार की कठोरता नहीं, व्यक्ति की अपनी विशिष्ट साधना कहा जा सकता है।

इन निष्कर्षों का मिश्रण न करें तो आचार के विषय में हमारा दृष्टिकोण बहुत साफ रहेगा, अहेतुक उलझनों से मानस प्रभावित नहीं होगा।*

* जैन शासन की एकता के संदर्भ में आलेखित एक निबंध।

- मन के जीते जीत
- आभा मण्डल
- किसने कहा मन चंचल है
- जैन योग
- चेतना का ऊर्ध्वारोहण
- एकला चलो रे
- मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि
- अपने घर में
- एसो पंच णमोक्कारो
- मैं हूं अपने भाग्य का निर्माता
- समस्या को देखना सीखें
- नया मानव : नया विश्व
- भिक्षु विचार दर्शन
- अर्हम्
- मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति
- समय के हस्ताक्षर
- आमंत्रण आरोग्य को
- महावीर की साधना का रहस्य
- घट-घट दीप जले
- अहिंसा तत्व दर्शन
- अहिंसा और शान्ति
- कर्मवाद
- संभव है समाधान
- मनन और मूल्यांकन
- जैन दर्शन और अनेकान्त
- शक्ति की साधना
- धर्म के सूत्र
- जैन दर्शन : मनन और मीमांसा
आदि-आदि



अतीत का वसंत
वर्तमान का सौरभ

आचार्य महाप्रज्ञ